॥ स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥

वन्दना

प्रकाशक :

सरस्वती शिशु मन्दिर प्रकाशन

निरालानगर, लखनऊ—७

प्रकाशक :
सरस्वती शिशु मन्दिर प्रकाशन
निरालानगर, लखनऊ–७

*

मूल्य : १.००

*

दीपावली
वि० सं० २०३६

*

मुद्रक :
ग्राफिक आर्ट प्रिंटर्स, मथुरा।
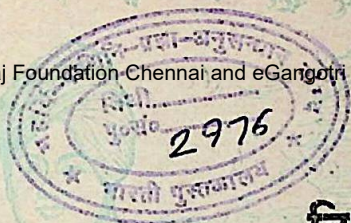
निवेदन

किसी व्यक्ति पर जिस प्रकार कें अच्छे बुरे संस्कार उसके वचपन में पड़ते हैं वही उसके भावी व्यक्तित्व के आधार बनते हैं और उन्हीं से मिलने वाली प्रेरणा और शक्ति उसे जीवन भर उसकी जीवन-यात्रा में सफल होने में सहायता करती है। स्वामी विवेकानन्द के मत में मनुष्य के मन और मस्तिष्क को भव्य संस्कारों के द्वारा आदर्श मानव के रूप में साधना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। उपनिषद् के अनुसार हम जो सोचते हैं वैसा ही बोलते हैं और उसी के अनुसार आचरण करते हैं। 'वन्दना' के द्वारा शिशु के मन में श्रेष्ठ एवं उदार मूल्यों के प्रति निष्ठा एवं श्रद्धा का निर्माण करना हमारा उद्देश्य है। सर्वप्रथम शिशुओं के कोमल अन्तःकरण में ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी माँ सरस्वती के प्रति सच्ची श्रद्धा वन्दना के द्वारा निर्माण होगी। शिशु असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर अपनी विद्या और विवेक के बल से अग्रसर होने की शक्ति मिलेगी।

प्रातः स्मरण के द्वारा शिशु के मन में मातृभूमि के प्रति भक्ति-भावना जगेगी तथा परमेश्वर और उनकी विभूतियों के स्मरण से आत्मविश्वास और आशावाद से उसका हृदय सामर्थ्य ग्रहण करेगा। स्वदेश को महान् और समृद्ध बनाने वाले अपने प्रतापी पूर्वजों-महापुरुषों और नारी-रत्नों के स्मरण से अपनी परम्परा, संस्कृति

और धर्म के प्रति श्रद्धा, स्वाभिमान और बलिदान के भाव जाग्रत होंगे।

गीता, रामायण और संस्कृत के सुभाषित बड़ी प्रेरणा और स्फूर्ति देने वाले हैं। पंचम कक्षा के शिशुओं को उन्हें कंठाग्र कर लेना चाहिये। संकलन करते समय ऐसे पद्य चुने गये हैं जिनका पूरा अभिप्राय चाहे शिशुओं को इस आयु में समझ में भी न आये, तो भी उनसे मिलने वाला पाठ और प्रेरणा उनकी चेतना का अभिन्न अङ्ग बन जाय और वह उन्हें उनके भावी जीवन में सुख-दु:ख, जय-पराजय, आशा-निराशा आदि के क्षणों में मार्ग-दर्शन कर सके। शिशु बड़ा होने के बाद अपना और दूसरों का मार्गदर्शन करने योग्य नेतृत्व के गुणों से सुसज्जित हो जायें—यही हमारी कामना है।

—कृष्णचन्द्र गांधी

शिशु शिक्षा प्रबन्ध समिति, उत्तर प्रदेश

प्रस्तावना

समाज की शिक्षा संस्थाओं को उसके सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण, विकास और विस्तार का वास्तविक केन्द्र माना जाता है। नन्हें-मुन्ने शिशु इन संस्थाओं के हाथों में राष्ट्र की अमूल्य धरोहर हैं। शिक्षा शिशुओं में अपने समाज की संस्कृति, जीवन-दर्शन और अध्यात्म के अनुरूप अच्छे संस्कारों का निर्माण करें, उनके सर्वांगीण विकास का साधन बने और उन्हें चरित्रवान्, शालीन, विनीत और उपयोगी नागरिक बनाते हुए उनमें रचनात्मक क्षमताओं का विकास करे, इस प्रकार की, 'सोद्देश्य शिक्षा' ही सच्ची भारतीय शिक्षा कही जा सकती है।

शिक्षा के माध्यम से ही मानव-समाज का संचित ज्ञान उसके शिशु, बाल, किशोर और तरुण व्यक्तियों में संचालित होता है। भारतीय धर्म और संस्कृति, आदर्शों और परम्पराओं के ज्ञान के साथ ही आधुनिक आवश्यकताओं और भविष्य की संभावनाओं के विषय में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विवेकपूर्ण विचार कल्पना और कार्य करने की क्षमता निर्माण करना हमारा उद्देश्य है। हमारे शिशु बड़े होकर राष्ट्रीय भावनाओं और देशभक्ति से ओत-प्रोत होकर देश के प्रबुद्ध, समर्थ और जागरूक नागरिक बने, भारतीय जीवन-दर्शन के उदार मूल्यों के अनुसार आचरण करते हुए समाज सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में सार्थक योगदान करें भविष्य की चुनौतियों को समझने और सुलझाने में समर्थ हों और पुरानी रूढ़ियों और सड़े-गले अन्ध-विश्वासों को दूर कर नये जीवन-मूल्यों का निर्माण करें। श्रम को जन-जीवन में फिर से प्रतिष्ठा दिलवायें। सामाजिक न्याय, उदारता और सहिष्णुता के गुणों से युक्त सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता का विकास करें जिसमें मातृभूमि, राष्ट्रीय सम्पत्ति और राष्ट्रीय आदर्शों की रक्षा के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को बलिदान कर देने की भावना प्रबल हो। प्रान्त, भाषा, जाति वर्ग आदि की संकीर्ण भावनाओं को छोड़ कर राष्ट्रीय एकता और संगठन के

द्वारा ऐसे भारतीय राष्ट्र का निर्माण हो सके जो सब प्रकार से समन्वयात्मक और प्रगतिशील हो ।

शिशुओं में राष्ट्रीय भावना, स्वाभिमान, आत्मगौरव, आत्मनिर्भरता, उदार और असंकुचित दृष्टिकोण, सच्चरित्रता, सेवा भावना, अनुशासन और प्रगल्भ लौहपुरुष की सी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक संतुलित क्षमता उत्पन्न करना हमारा पवित्र उद्देश्य है । इनके द्वारा ही व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व सभी का प्रगतिशील विकास और कल्याण सम्भव है । स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"भारत माँ सो रही है । उसे सही शिक्षा द्वारा जगाना है, जिससे उसकी संस्कृति प्राचीन समय से भी उज्ज्वल होकर मानव-कल्याण और विश्व संस्कृति के निर्माण के पथ की ओर अग्रसर हो सके ।" इस दिशा में गत अनेक वर्षों से 'शिशु-शिक्षा प्रबन्ध समिति, उत्तर प्रदेश' ने सारे प्रदेश में स्थान-स्थान पर 'सरस्वती शिशु मन्दिरों' की स्थापना करके सोद्देश्य शिक्षा के द्वारा भारतीय शिक्षा-पद्धति के पुनरुद्धार का कार्य प्रारम्भ किया है । इसके लिए नये यथोचित रचनात्मक पाठ्यक्रम तैयार किये गये हैं । शिशु-मन्दिरों के आचार्य-गण मिशनरी-भावना से मधुर गुरु शिष्य सम्बन्धों के वातावरण में इस पद्धति को सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में भी चला रहे हैं, इनके लिए वे वधाई के पात्र हैं । राष्ट्र के नव-निर्माण में उनका यह योगदान भावी भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायगा । उन्हीं के कर कमलों में तथा उन्हीं के नन्हे-मुन्ने भैयाओं और वहिनों के लिए यह छोटी सी कृति 'वन्दना' समर्पित है । उनके सुझाव और संशोधन सादर आमन्त्रित हैं, जिनके मार्ग-दर्शन में अगले संस्करण में इसका यथोचित परिष्कार किया जा सकेगा । यदि इस सेवा के द्वारा आपको थोड़ा-वहुत भी सन्तोष हुआ तो सम्पादक अपने परिश्रम को सफल समझेगा ।

रघुवीर शास्त्री
एम० ए०, पी० एच० डी०
अध्यक्ष—संस्कृत विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय
(अलीगढ़)

हमारी प्रार्थना

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युत शंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ।।१।।

जो विद्या की देवता भगवती सरस्वती कुन्द के फूल, चन्द्रमा, हिमराशि और मोती के हार की तरह धवल वर्ण की हैं और जो श्वेत वस्त्र धारण करती हैं, जिनके हाथ में बीणा-दण्ड शोभायमान है तथा जिन्होंने श्वेत कमलों पर आसन ग्रहण किया है, ब्रह्मा, विष्णु और देवता जिनकी सदैव वन्दना करते हैं वही सम्पूर्ण जड़ता और अज्ञान को दूर कर देने वाली हमारी रक्षा करें ।।१।।

शुक्लां ब्रह्मविचार सार परमाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणा-पुस्तक-धारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थिताम्
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ।।२।।

शुक्लवर्ण वाली, सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त, आदिशक्ति, परब्रह्म के विषय में किये गये विचार एवं चिन्तन के सार रूप परम उत्कर्ष को धारण करने वाली, सभी भयों से अभयदान देने वाली, अज्ञान के अँधेरे को मिटाने वाली, हाथों में वीणा, पुस्तक और स्फटिक की माला धारण करने वाली और पद्मासन पर विराजमान् बुद्धि प्रदान करने वाली, सर्वोच्च ऐश्वर्य से अलंकृत, भगवती शारदा (सरस्वती देवी) की मैं वन्दना करता हूँ ।।२।।

सरस्वती-वन्दना

हे हंसवाहिनी ज्ञानदायिनी
अम्ब विमल मति दे । अम्ब विमल मति दे ।।
जग सिरमौर बनायें भारत,
वह बल विक्रम दे । वह बल विक्रम दे ।।
हे हंसवाहिनी ज्ञानदायिनी
अम्ब विमल मति दे । अम्ब विमल मति दे ।।

साहस शील हृदय में भर दे,
जीवन त्याग-तपोमय कर दे,
संयम सत्य स्नेह को भर दे,
स्वाभिमान भर दे । स्वाभिमान भर दे ।।१।।
हे हंसवाहिनी ज्ञानदायिनी
अम्ब विमल मति दे । अम्ब विमल मति दे ।।

लव, कुश, ध्रुव, प्रहलाद बनें हम,
मानवता का त्रास हरें हम,
सीता, सावित्री, दुर्गा माँ,
फिर घर-घर भर दे । फिर घर-घर भर दे ।।२।।
हे हंसवाहिनी ज्ञानदायिनी
अम्ब विमल मति दे । अम्ब विमल मति दे ।।

※ भारतमाता की जय ※

शान्ति-पाठ

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी सभी शान्ति एवं कल्याण देने वाले हों। सभी जल औषधियाँ और वनस्पतियाँ हमें सुख-शान्ति प्रदान करें। सभी देवता, परब्रह्म परमेश्वर और सभी सम्मिलित रूप में शान्ति देने वाले हों। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की शान्ति ही शान्ति हो। वह शान्ति हममें (मा) सदैव वृद्धि को प्राप्त हो ॥

प्रातःस्मरणम्

प्रातःकाल उठकर आत्महित की कामना से प्रातःस्मरण का पाठ करने से सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में विश्वास अपनी मातृभूमि और राष्ट्र के प्रति भक्ति और प्रेम, तथा अपने प्रतापी पूर्वजों के स्मरण से जगे आत्म गौरव और स्वाभिमान के पवित्र भाव मन में आते हैं। जिसके कारण प्रफुल्लता, स्फूर्ति, दृढ़ता, उल्लास और उत्साह के साथ अपने कर्तव्य के पथ पर बढ़ता हुआ मनुष्य नई-नई सफलतायें अवश्य प्राप्त करता है। दिन भर मन प्रसन्नता और उमंग से भरा रहता है।

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती ।
करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम् ॥१॥

प्रातःकाल में ('अपना हाथ जगन्नाथ' इस भावना से पुरुषार्थ के प्रतीक अपने) हाथों का दर्शन करे। (क्योंकि) कर-तल के अग्रभाग में लक्ष्मी का निवास है, कर (हाथ) के मध्य में सरस्वती का और कर के मूल में गोविन्द का निवास है। अर्थात् पुरुषार्थ या कर्त्तव्य-कर्म के मूल में सब प्रकार के धन-धान्य के दाता (गोविन्द) का ध्यान और कर्म के मध्य में ज्ञान-विज्ञान की देवी सरस्वती की साधना करने से परिणामस्वरूप सब प्रकार की समृद्धि प्राप्त होगी—यही तात्पर्य है ॥१॥

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तनमण्डले !
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥२॥

हे मातृभूमि देवता ! जिसकी रक्षा स्वयं विष्णु (पतिरूप)

करते हैं। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। हे सागर रूपी परिधानों (वस्त्रों) और पर्वत रूपी वक्षःस्थल से शोभायमान धरती माता ! मुझे चरणों से स्पर्श के लिए क्षमा करो ॥२॥

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च ।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥३॥

ब्रह्मा, मुरारि (विष्णु) और त्रिपुर-नाशक शिव (अर्थात् तीनों देवता) तथा सूर्य, चन्द्रमा, भूमिपुत्र (मंगल), बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु ये नवग्रह सभी मेरे प्रभात को शुभ एवं मंगलमय करें ॥३॥

सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः
सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च ।
सप्त स्वराः सप्त रसातलानि
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥४॥

(ब्रह्मा के मानसपुत्र, बाल-ऋषि) सनत्कुमार, सनक सनन्दन और सनातन तथा (सांख्य-दर्शन के प्रवर्त्तक कपिलमुनि के शिष्य) आसुरि एवं छन्दों का ज्ञान कराने वाले मुनि पिङ्गल मेरे इस प्रभात को मंगलमय करें। साथ ही (नाद-ब्रह्म के विवर्तरूप षट्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, निषाद और धैवत) ये सातों स्वर और (हमारी पृथ्वी से नीचे बसे) सातों रसातल मेरे लिए सुप्रभात करें ॥४॥

सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च
सप्तर्षयो द्वीपवनानि सप्त ।

भूरादिकृत्वा भुवनानि सप्त

कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥५॥

सप्त समुद्र (अर्थात् भूमण्डल के लवणाब्धि, इक्षुसागर, सुरार्णव, आज्यसागर, दधिसमुद्र, क्षीरसागर और स्वादुजल रूपी सातों सलिल-तत्व), सप्त पर्वत (महेन्द्र, मलय, सह्याद्रि, शुक्तिमान्, ऋक्षवान्, विन्ध्य और पारियात्र), सप्तऋषि (कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, गौतम, जमदग्नि, वशिष्ठ और विश्वामित्र), सातों द्वीप (जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर), सातों वन (दण्डकारण्य, खण्डारण्य, चम्पकारण्य, वेदारण्य, नैमिषारण्य और धर्मारण्य), भूलोक आदि सातों भुवन (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्) सभी मेरे प्रभात को मंगलमय करें ॥५॥

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः

स्पर्शो च वायुर्ज्वलनं च तेजः ।

नभः सशब्दं महता सहैव

कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥६॥

अपने गुणरूपी गन्ध से युक्त पृथिवी रस से युक्त जल, स्पर्श से युक्त वायु, ज्वलनशील तेज, तथा शब्द रूपी गुण से युक्त आकाश महत्-तत्व बुद्धि) के साथ मेरे प्रभात को मंगलमय करें अर्थात् पाँचों तत्व बुद्धि-तत्व कल्याणकारी हों ॥६॥

महेन्द्रो मलयः सह्यो

देवतात्मा हिमालयः ।

ध्येयो रैवतको विन्ध्यो

गिरिश्चारावलिस्तथा ॥७॥

महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा प्रदेश में विद्यमान), मलयाचल (मैसूर के दक्षिण में चन्दन के वृक्षों से युक्त), सह्याद्रि (पश्चिमी घाट)

देवतात्मा हिमालय (उत्तर दिशा में), रैवतक (द्वारका के समीप गिरनार), विन्ध्याचल (मध्य-प्रदेश में) तथा अरावलि पर्वत-श्रेणि (राजस्थान से दिल्ली तक) का ध्यान करना चाहिए ।।७।।

गंगा सिन्धुश्च कावेरी यमुना च सरस्वती ।
रेवा महानदी गोदा ब्रह्मपुत्रः पुनातु माम् ।। ८ ।।

सिन्धु, गंगा, यमुना, सरस्वती, ब्रह्मपुत्र, रेवा (नर्वदा) महानदी, गोदावरी और कावेरी ये नौ नदियाँ मुझे पवित्र करें ।।८।।

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।। ९ ।।

अयोध्या (भगवान राम की जन्मभूमि), मथुरा (श्रीकृष्ण की जन्मभूमि), माया (हरिद्वार), काशी, कांची, अवन्ती (उज्जयिनी = उज्जैन) और द्वारावती (द्वारका) नगरी ये सातों मोक्ष देने वाली हैं ।।९।।

प्रयागं पाटलीपुत्रं विजयानगरं पुरीम् ।
इन्द्रप्रस्थं गयां चैव प्रत्यूषे प्रत्यहं स्मरेत् ।।१०।।

प्रयाग, पाटलीपुत्र (पटना), विजयनगर, जगन्नाथपुरी, इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली), और गया—इनका प्रतिदिन प्रातःकाल में स्मरण करना चाहिए ।।१०।।

अरुन्धत्यनसूया च सावित्री जानकी सती ।
तेजस्विनी च पाञ्चाली वन्दनीया निरन्तरम् ।।११।।

सती अरुन्धती, (वशिष्ठ-पत्नी), सती अनसूया, सती सावित्री, (सत्यवान की पत्नी), सती सीता तथा प्रचण्ड तेज वाली पांचाली (द्रौपदी) की सदैव वन्दना करनी चाहिए ।।११।।

लक्ष्मीरहल्या चन्नम्मा मीरा दुर्गावती तथा

कण्णगी च महासाध्वी शारदा च निवेदिता ॥१२॥

(स्वतन्त्रता-सेनानी, झांसी की रानी) लक्ष्मी, अहल्याबाई (होल्कर), कर्नाटक की वीर महिला चन्नम्मा, परमभक्त मीराबाई, गढ़ मण्डल की रानी वीरांगना दुर्गावती, तमिलनाडु की विख्यात पतिव्रता कण्णगी, श्री रामकृष्ण परमहंस की धर्मपत्नी शारदा और भगिनी निवेदिता सदा ही वन्दना के योग्य हैं ॥१२॥

वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनं च
शाकुन्तलेयं भरतं नलं च ।
रामं च यो वै स्मरति प्रभाते
तस्यार्थलाभो विजयश्च हस्ते ॥१३॥

राजा वेन के पुत्र पृथु, हैहयवंशी कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन, शकुन्तला के पुत्र भरत (जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत-वर्ष पड़ा है), राजा नल और मर्यादापुरुषोत्तम राम को प्रभात में जो कोई स्मरण करता है उसके हाथ में अर्थलाभ और विजय प्राप्त होते हैं ॥१३॥

दध्यङ् मनुर्भृगुरसौ हरिपूर्वचन्द्रो
भीष्मार्जुन-ध्रुव-वसिष्ठ-शुकादयश्च ।
प्रहलाद-नारद-भगीरथ-विश्वकर्म-
वाल्मीकयोऽत्र चिरचिन्त्यशुभाभिधानाः ॥१४॥

अपनी हड्डियों को इन्द्र के वज्र के लिये दान कर देने वाले हुतात्मा ऋषि दधीच, मनु, भृगु, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, ब्रह्मचारी भीष्म, सव्यसाची और शब्दवेधी अर्जुन, परमभक्त ध्रुव, गुरु वशिष्ठ, परमहंस शुकदेव, भक्त प्रहलाद, देवर्षि नारद, गंगा को पृथ्वी पर लाने

वाले राजा भगीरथ, सब प्रकार के यन्त्रों और उपकरणों के निर्माता विश्वकर्मा और रामायणकार आदिकवि वाल्मीकि आदि के शुभ नामों का सदैव स्मरण किया जाना चाहिए ।।१४।।

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ।।१५।।

गुरु द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा, दानवराज दानवीर बलि, महाभारत के महाकवि वेदव्यास, पवनपुत्र हनुमान, विभीषण कृपाचार्य और भगवान् परशुराम—ये सात चिरजीवी (अमर) हैं ।।१५।।

सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम् ।
जीवेद् वर्षशतं साग्रमपमृत्युर्विवर्जितः ।।१६।।

इन सातों का सदा ही स्मरण करे और इनके अतिरिक्त आठवें मारकण्डेय ऋषि का भली प्रकार चिन्तन-स्मरण करे (तो) सभी प्रकार की अकाल-मृत्यु अथवा अपमृत्यु से सुरक्षित रहते हुए पूरे सौ वर्ष की समग्र एवं श्रेयस्कर आयु प्राप्त होती है ।।१६।।

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः ।
पुण्यश्लोको विदेहश्च पुण्यश्लोको जनार्दनः ।।१७।।

जिनका चरित्र और कीर्ति पाप को नष्ट करके पवित्रता (पुण्य) देने वाली है वे विदर्भराज राजा नल, धर्मराज युधिष्ठिर, ब्रह्मज्ञानी विदेह जनक तथा योगेश्वर श्रीकृष्ण पुण्य कीर्ति हैं—पतितपावन हैं ।।१७।।

बुद्धो जिनेन्द्रो गोरक्षः शंकरश्च पतञ्जलिः ।
रामानुजोऽथ चैतन्यः कबीरो गुरुनानकः ।।१८।।

भगवान् बुद्ध, जिनेन्द्र महावीर स्वामी, गुरु गोरखनाथ, भगवान् पतञ्जलि (योगदर्शन के प्रवर्तक महर्षि), जगद्गुरु शंकराचार्य;

रामानुजाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, महात्मा कबीर और गुरु नानकदेव (हमें दैवी गुण प्रदान करें) ॥१८॥

ज्ञानेश्वरस्तुकारामः समर्थो मध्वबल्लभौ ।
नरसीस्तुलसीदासः कम्बः साधुकुलोत्तमाः ॥१९॥

सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त तुकाराम, समर्थ स्वामी रामदास, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, भक्तिशिरोमणि नरसी मेहता, गोस्वामी तुलसीदास, कम्बन् (तमिल-रामायण के रचयिता), ये सभी साधु-सन्तों में श्रेष्ठ महापुरुष (हमें सद्गुणों की दैवी सम्पदा, दिव्य स्वभाव प्रदान करें ।) ॥१९॥

नायन्मारालवाराश्च तिरुवल्लवरस्तथा ।
वितरन्तु सदैवैते दैवीं मे गुणसम्पदम् ॥२०॥

वैष्णव नायन्मार और आलवार परम्परा के सन्त और तिरुवल्लवर आदि ये श्रेष्ठ साधु पुरुष सर्वदा मुझे दैवी सम्पदा प्रदान करें ॥२०॥

अगस्त्यः कम्बुकौण्डिन्यौ राजेन्द्रश्चोलभूषणः ।
सर्वे दिग्जयिनः ख्याताः शैलेन्द्रो बप्परावलः ॥२१॥

महर्षि अगस्त्य (दक्षिणापथ का उद्धार करने वाले तथा सुदूर पूर्व में 'बृहद्-भारत' के निर्माता), कम्बु, कौण्डिन्य, चोलवंशी राजेन्द्र, शैलेन्द्र और बप्पा रावल ये सभी (विजिगीषु वीर-पुरुष) अपनी दिग्विजयों के लिये विख्यात हैं ॥२१॥

चाणक्यश्चंद्रगुप्तश्च विक्रमः शालिवाहनः ।
अशोकः पुष्यमित्रश्च खारवेलः सुनीतिमान् ॥२२॥

महात्मा चाणक्य (कौटिल्य), सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, (अवन्ती-गणराज्य के गण-प्रमुख शकारि) विक्रमादित्य, शालिवाहन प्रियदर्शी,

अशोक महान्, शुङ्गवंश के संस्थापक सेनापति पुष्यमित्र तथा महान् नीतिज्ञ खारवेल ॥२२॥

हूणजेता यशोधर्मा समुद्रो गुप्तवंशजः ।
श्रीकृष्णदेवरायश्च प्रदाता हर्षवर्धनः ॥२३॥

मातृभूमि पर आक्रमण करने वाले हूणों को जीत लेने वाले महाराज यशोधर्मा शकों और हूणों की सत्ता को परास्त करने तथा उखाड़ फेंकने वाले सम्राट् समुद्रगुप्त विक्रमादित्य, श्री कृष्णदेवराय सर्वस्व दान करने वाले महादानी हर्षवर्धन ॥२३॥।

साधु शंकरदेवश्च तथा सायणमाधवौ ।
प्रतापः शिवराजश्च गोविन्दो वसवेश्वरः ॥२४॥

असम के वैष्णव सन्त शंकरदेव, विजय नगर साम्राज्य के महामंत्री और महासेनापति तथा वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य तथा वेदों की व्याख्या करने वाले माधवाचार्य, महाराणा प्रताप, महाराष्ट्र-केसरी छत्रपति शिवाजी, दशमेश गुरु गोविन्दसिंह जी तथा श्री वसवेश्वर ॥२४॥

रामकृष्णो दयानन्दो रवीन्द्रो राममोहनः ।
रामतीर्थोऽरविन्दश्च विवेकानन्द उद्यशाः ॥२५॥

पाखण्डखण्डिनी पताका फहराने वाले महर्षि दयानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस, परमयशस्वी स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, राजा राममोहनराय, विश्वकवि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महर्षि योगिराज अरविन्द (प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और योगी सन्त) ॥२५॥

तिलको रमणश्चैव सुधीर्नारायणो गुरुः ।
महामना मालवीयो महात्मा गान्धिरेव च ॥२६॥

('स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का जयघोष करने वाले) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महर्षि रमण, केरल के महान् सन्त नारायण गुरु, (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक) महामना मदनमोहन मालवीय और महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गान्धी ॥२६॥

केशवः संघनिर्माता हेडगेवारवंशजः ।
सन्ततं चिन्तयेदेतान् हिन्दुभूमिसुतोत्तमान् ॥२७॥

संघ (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) के निर्माता आद्य सरसंघचालक हेडगेवार वंशोत्पन्न डा० केशवराय बलीराम आदि हिन्दुभूमि के इन श्रेष्ठ पुत्रों का सदैव चिन्तन करना चाहिए ॥२७॥

अनुक्ता ये भक्ता हरिचरणसंसक्तहृदया
अविज्ञाता वीरा अधिसमरमुद्ध्वस्तरिपवः ।
हुतात्मानः सन्तो भरतभुवि ये सन्ति च परे
नमस्तेभ्यो भूयादुषसि सकलेभ्यः प्रतिदिनम् ॥२८॥

इस प्रातः स्मरण में जिनका नाम नहीं लिया गया है—ऐसे भगवान् के चरणों में अपने अन्तःकरणों को लगाने वाले जो भक्त इस भारतभूमि में हुए हैं तथा वे अनेक अज्ञात महान् वीर जिन्होंने समर-भूमि में शत्रुओं का विनाश किया और मातृभूमि के लिये अपने जीवन की आहुति ही दे देने वाले जो अन्य वीर पुरुष और सन्त-महात्मा इस प्रिय स्वदेश में हुए हैं और अब भी विद्यमान हैं—उन सभी के लिये प्रतिदिन सबेरे-सबेरे (प्रभात में) हमारा नमस्कार हो ॥२८॥

रत्नाकराधौतपदां हिमालयकिरीटिनीम् ।
ब्रह्मराजर्षि रत्नाढ्यां वन्दे भारतमातरम् ॥२६॥

बहुमूल्य रत्नों से भरा हुआ (रत्नाकर) समुद्र जिसके चरण धोता है, जिसके मस्तक पर हिमालय का मुकुट शोभायमान है तथा

जो अपने अनेक ब्रह्मर्षि और राजर्षि रूपी पुत्र-रत्नों से समृद्धिशालिनी है, ऐसी भारतमाता की मैं वन्दना करता हूँ ।।२९।।

प्रातःस्मरणमेतद् यो
विदित्वादरतः पठेत् ।
स सम्यग् धर्मनिष्ठः स्यात्
संस्मृताखण्ड भारतः ।।३०।।

* भारतमाता की जय *

इस प्रातः स्मरण को जो व्यक्ति समझकर और आदरपूर्वक पाठ करेगा, वह अखण्ड भारत की स्मृति मन में सँजोये हुए अपने धर्म एवं कर्तव्य के प्रति सदैव निष्ठावान् और प्रामाणिक बना रहेगा ।।३०।।

* भारतमाता की जय *

वन्दना के इन स्वरों में, एक स्वर मेरा मिला लो
वन्दिनी माँ को न भूलो, राग में जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्न कण में, एक कण मेरा मिला लो ।।
जब हृदय के तार बोले, शृंखला के बन्द खोले
चढ़ रहे हो शीश अगणित, एक सिर मेरा मिला लो ।।

एक स्वर मेरा मिला लो !!

भोजन - मन्त्र

ॐ यन्तु नद्यो वर्षन्तु पर्जन्याः । सुपिप्पला ओषधयो भवन्तु । अन्नवतामोदनवतामामिक्षवताम् । एषां राजा भूयासम् । ओदनमुद्ब्रुवते परमेष्ठी वा एषः यदोदनः । परमामेवैनं श्रियं गमयति ।।

—कृष्णयजुर्वेद

अर्थ—नदियाँ बहती रहें । (यथा समय) बादल बरसें । औषधियाँ अर्थात् सभी वनस्पति भली प्रकार फलों से युक्त हों । इन प्रचुर मात्रा में अन्न-धान्य वाले, ओदन (भात) वाले और दूध, दही और घी वाले लोगों का मैं राजा (रञ्जन करने वाला, प्रमुख) बनूँ । भोजन करने वाले के सामने परोसा हुआ यह भात (अन्न) स्वयं ब्रह्म (परमेश्वरस्वरूप) ही है । यही सेवन करने वाले व्यक्ति को उच्चतम सम्पदा, कान्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करता है ।

ॐ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।

—अथर्ववेद

भाई-भाई से द्वेष भावना न रखें । न ही कोई बहिन-बहिन से द्वेष करे । सभी समीचीन (यथोचित) आचरण करते हुए, सदाचार-व्रत का पालन करते हुए आपस में कल्याण करने वाली भद्र वाणी बोलें ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥

जो अपने आपको ईश्वरीय कार्य में ईश्वरीय प्रेरणा से लगा हुआ होने के कारण ईश्वर-(ब्रह्म) रूप मानकर ब्रह्मरूपी अग्नि में, ब्रह्मरूपी आहुति को, ब्रह्म के ही उद्देश्य से हवन करता आया है उसके ब्रह्म और सेवा और त्याग से युक्त यज्ञरूपी कर्म में कोई अन्तर नहीं है, वे एक ही हैं। ऐसी ब्रह्मनिष्ठ बुद्धि हो जाने के कारण वह स्वयं ही ब्रह्मपद को ही प्राप्त होगा ।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हम दोनों (गुरु और शिष्य, अपने धर्म, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान आदि की) साथ-साथ मिलकर रक्षा और अर्जन करें। हम दोनों साथ-साथ मिलकर अन्न आदि का भोग करें। हम मिलकर संगठित पराक्रम करें। हमारी साधना, अध्ययन और ज्ञान तेजस्वी हों, (दुर्बल नहीं)। हम कभी परस्पर द्वेष न करें।

हे परमेश्वर ! हमारे अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने राष्ट्र में तथा सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र शान्ति हो ।

●●

वन्दे मातरम्

वन्दे मातरम् ।
सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्
शस्यश्यामलां मातरम् ।
वन्दे मातरम् ॥
शुभ्रज्योत्स्नां पुलकितयामिनीम्
फुल्ल-कुसुमित-द्रुम-दल-शोभिनीम् ।
सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीम् ,
सुखदां वरदां मातरम् ।
वन्दे मातरम् ॥
कोटि-कोटि कण्ठ-कल-कल-निनादकराले
द्विषष्टि कोटि भुजैर्धृत-खर-करवाले ।
के बोले मां तुमि अबले !
बहुबलधारिणीं नमामि तारिणीं
रिपुदलवारिणीं मातरम् ।
वन्दे मातरम् ॥

तुमि विद्या तुमि धर्म
तुमि हृदि तुमि मर्म
त्वं हि प्राणाः शरीरे
बाहु ते तुमि मां शक्ति
हृदये तुमि मां भक्ति
तोमारि प्रतिमा गड़ि, मन्दिरे मन्दिरे ।
वन्दे मातरम् ॥
त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी
कमला कमलदलविहारिणी
वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वां
नमामि कमलाम् अमलाम् अतुलां
सुजलां सुफलां मातरम् ।
वन्दे मातरम् ।
श्यामलां सरलां सुस्मितां भूषितां
धरणीं भरणीं मातरम् ।
वन्दे मातरम् ॥
॥ भारतमाता की जय ॥

गीता का सार

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥१॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥२॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥३॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥४॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोस्त्वकर्मणि ॥५॥
यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥६॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥७॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥८॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥९॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥१०॥

विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥११॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१२॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥१३॥

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१४॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
तत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥१५॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१६॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१७॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१८॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१९॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यं अहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥२०॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥२१॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥२२॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥२३॥

सुभाषित

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ।
मूर्खैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते ॥

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खं शतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणा अपि ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

येषां न विद्या न तपो न दानम्
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

सहसा विदधीत न क्रियाम्,
अविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते ।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन ।
दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।
विभाति कायः करुणापराणाम्
परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥

श्रम एव परो यज्ञः श्रम एव परं तपः ।
नास्ति किञ्चित् श्रमासाध्यं तेन श्रमपरो भव ॥

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
न्यम्बूनि दुग्धनलिनानि निषेवितानि ।
रे राजहंस ! वद तस्य सरोवरस्य
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ॥

विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः ।
परलोके धनं धर्मः शीलं सर्वत्र वै धनम् ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मस्ततः सुखम् ॥

++

रामायण के संकलित प्रसंग

मिथिला में धनुष-यज्ञ

वय किसोर सुषमा सदन, स्याम गौर सुखधाम ।
अंग अंग पर वारिअहिं, कोटि-कोटि सत काम ॥

कहहु सखी अस को तनुधारी । जो न मोह यह रूप निहारी ॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी । जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ॥
ए दोऊ दशरथ के ढोटा । बाल मरालन्हि के कल जोटा ॥
मुनि कौसिक मख के रखवारे । जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे ॥
स्याम गात कल कंज विलोचन । जो मारीच सुभुज मदु मोचन ॥
कौसल्या सुत सो सुख खानी । नामु रामु धनु सायक पानी ॥
गौर किसोर वेषु वर काछें । कर सर चाप राम के पाछें ॥
लछिमनु नामु राम लघु भ्राता । सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥

बिप्रकाजु करि बन्धु दोउ, मग मुनिबधू उधारि ।
आए देखन चाप-मख, सुनि हरषीं सब नारि ॥
हिय हरषहिं बरसहिं सुमन, सुमुखि सुलोचनि वृन्द ।
जाहिं जहाँ जहँ बन्धु दोउ, तहँ तहँ परमानन्द ॥

गुरु विश्वामित्र की सेवा

सभय सप्रेम विनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ ।
गुर पद पंकज नाइ सिर, बैठे आयसु पाइ ।।

निसि प्रवेश मुनि आयसु दीन्हा । सबही संध्यावन्दनु कीन्हा ।।
कहत कथा इतिहास पुरानी । रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ।।
मुनिवर सयन कीन्हि तब जाई । लगे चरन चापन दोउ भाई ।।
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी । करत विबिध जप जोग विरागी ।।
तेइ दोउ बन्धु प्रेम जनु जीते । गुर पद कमल पलोटत प्रीते ।।
बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुवर जाइ सयन तब कीन्ही ।।
चापत चरन लखनु उर लाएँ । सभय सप्रेम परम सचु पाएँ ।।

उठे लखनु निस विगत सुनि, अरुन सिखा धुनि कान ।
पुर ते पहिलेहि जगतपति, जागे रामु सुजान ।।

लक्ष्मण-मेघनाथ-युद्ध

आयसु माँगि राम पहिं, अंगदादि कपि साथ ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ, बान सरासन हाथ ।।

छतज नयन उर बाहु बिसाला । हिमगिरि निभ तनु कछु एक लाला ।।
इहाँ दसानन सुभट पठाए । नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए ।।
भूधर नख विटपायुध धारी । धाए कपि जय राम पुकारी ।।
भिरे सकल जोरिहि सन जोरी । इत उत जय इच्छा नहिं थोरी ।।
मुठिकन्ह लातन्ह दातन्ह काटहिं । कपि जयसील मारि पुनि डाटहिं ।।
मारु मारु धरु धरु धरु मारू । सीस तोरि गहि भुजा उपारू ।।
असि रव पूरि रही नव खंडा । धावहि जहँ तहँ रुंड प्रचंडा ।।
देखहिं कौतुक नभ सुर वृन्दा । कबहुँक बिसमय कबहुँ अनन्दा ।।

रुधिर गाड़ भरि भरि जम्या, ऊपर धरि उड़ाइ।

जनु अंगार रासिन्ह पर, मृतक धूम रह्यो छाइ॥

लछिमन मेघनाद दोउ जोधा। भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा॥
एकहिं एक सकइ नहिं जीती। निसिचर छल वल करइ अनीती॥
क्रोधवंत तब भयउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता॥
रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥
वीरघातिनी छाड़िसि सांगी। तेजपुञ्ज लछिमन उर लागी॥
मुरुछा भई सक्ति के लागें। तब चलि गयउ निकट भय त्यागें॥

राम पदारबिंद सिर, नायउ आइ सुषेन।
कहा नाम गिरि औषधी, जाहु पवनसुत लेन॥

राम का भ्रातृ-प्रेम

उहाँ राम लछिमनहिं निहारी। बोले वचन मनुज अनुसारी॥
अर्ध राति गइ कपिनहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौ जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा। होंहि जाहिं जग वारहिं बारा॥
अस विचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न ज़गत सहोदर भ्राता॥
जथा पंखु बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिवर करहीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
बहु विधि सोचत सोच विमोचन। स्रवत सलिल राजिवदल लोचन॥
उमा एक अखंड, रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई॥

प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भये बानर निकर।
आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीर रस॥

राम राज्य

रघुपति चरित देखि पुरवासी । पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी ।
राम राज बैठे त्रैलोका । हरषित भए गए सब सोका ।
बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ।

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहि सुखहि, नहिं भय सोक न रोग ।।

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि व्यापा ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ।
राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परमगति के अधिकारी ।
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुन्दर सब विरुज सरीरा ।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी । सब कृतग्य नहिं कपट सयानी ॥

राम राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माँहि ।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाँहि ।।

Printed at —

Automatic Printing Press, Math

आत्मा के तीनों कालों की कहानी

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय

आत्मा के तीनों कालों की कहानी

●

इस
पुस्तक में
बताया गया है कि
आप कौन हैं, कहाँ से आए हैं,
और आपको जाना कहाँ है ? क्या
शरीर से भिन्न 'आत्मा' नाम की कोई
चीज़ है ? आत्मा क्या चीज़ है ? आत्मा
इस सृष्टि में कहाँ से आई है ? मन-बुद्धि
क्या हैं ? क्या आत्मा पुनर्जन्म लेती है ? क्या
वह देहान्त के बाद पशु-पक्ष्यादि योनियों
में जाती है ? आत्मा के ८४ जन्मों की
कहानी क्या है ? मनुष्य-जीवन
का लक्ष्य क्या है ? मुक्ति और
जीवन्मुक्ति क्या है, आत्मा
के तीनों कालों की
कहानी क्या
है ?

●

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय
पाण्डव भवन
माऊंट आबू (राजस्थान)

विषय-सूची

चित्र-सूची

पहली वार ...७,०००
दूसरी वार ...१०,०००
तीसरी वार ...१०,३००
चौथी वार ...१०,३००

मुद्रक - K.R...

अपने आपको जानने की आवश्यकता

रेक मनुष्य में जानने की इच्छा स्वाभाविक और जन्मजात है। अतः कोई तो अतीत को जानने के लिए इतिहास में रुचि ले ा है तो कोई विधि-विधान-संविधान (Law & Constitution) का ध्ययन कर रहा है। कोई भूगोल पढ़ रहा है, तो कोई लेखा-ज्ञान ccounting) सीख रहा है, तो कोई अपने व्यापार-सम्बन्धी जानकारी प्त कर रहा है और कोई किसी जगह पहुँचने के लिए रास्ते मालूम र रहा है या कोई बस के नम्बर ही पूछ रहा है। परन्तु यह कितने श्चर्य की बात है कि मनुष्य लाखों बातों को तो जानता है, परन्तु ने आप को नहीं जानता और जिन देह-धारियों के साथ उसका लेन- न है वह उनको भी नहीं जानता तथा इस सृष्टि रूपी खेल अथवा टक के आदि-मध्य-अन्त को भी नहीं जानता। कोई तो अपने आपको क शरीर मानता है और कोई स्वयं को मन या कोई मस्तिष्क (Brain) नता है। कोई कहता है कि मैं केवल मिट्टी का एक पुतला हूँ, तो न्य कोई कहता है कि मैं एक 'इन्सान' हूँ।

इस अज्ञानता अथवा मिथ्या ज्ञान का परिणाम यह है कि आज का नुष्य स्वयं को देह मान कर काले-गोरे के झगड़े में, अमरीकन-रूसी मन-मुटाव में, भाषा-भेद के बखेड़े में या हिन्दू-मुसलमान के तनाजे पड़ गया है। स्वयं को देह मान कर कर्म करने के कारण ही वह ाम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार में बुरी तरह फँस गया है और सलिए दुःख तथा अशान्ति भोग रहा है।

अतः मनुष्य के कल्याण के लिए जरूरी है कि वह अपने आपको जाने और सृष्टि रूपी खेल को जाने। इस उद्देश्य से ही परमपिता शिव रमात्मा ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा वर्त्तमान समय जो ज्ञान दिया है, उसके आधार पर ही यह पुस्तक लिखी गई है। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे कि 'आप कौन हैं, कहाँ से आये हैं, आपने अब तक कितने जन्म लिये हैं और कहाँ तथा कब आपको जाना है?' —सम्पादक

क्या शरीर से भिन्न आत्मा नाम की कोई चीज़ है

स्वयं को शरीर मानने की भूल कैसे हुई ?

यह कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य स्वयं अपने बारे में पूरी तरह नहीं जानता। कोई मनुष्य स्वयं को शरीर और को स्वयं को प्रकृति से भिन्न एक चेतन शक्ति अर्थात् 'आत्मा' निश्चय करत है और कोई स्वयं को अनादि तथा अविनाशी मानता है और अ कोई कहता है कि आत्मा नाम की कोई चीज़ ही नहीं है वह स्वयं को एक जीवित शरीर ही समझता है और जब त शरीर है तब तक ही वह अपना अस्तित्व मानता है। संसार में ऐ विस्मयजनक परिस्थिति को देखकर मनुष्य दुबारा सोचने लगता कि—"क्या सचमुच आत्मा का शरीर से अलग कोई अस्तित्व है या नहीं ? यदि आत्मा शरीर से अलग चीज़ है तो वह स्वयं देह मानने की भूल कैसे करती है ? हम विवेक द्वारा कैसे मानें आत्मा शरीर से एक न्यारी सत्ता है ? क्या हम आत्मा को देख सकते हैं ? यदि हाँ, तो फिर आत्मा के बारे में सन्देह और वि क्यों बना हुआ है ?" इन सभी प्रश्नों में से सबसे पहले इस प्रश्न विचार कर लेना ठीक होगा कि हम विवेक द्वारा कैसे मानें कि श से अलग कोई आत्मा है ?

प्रकृति से बने हुए यन्त्र स्वयं अपने लिए नहीं होते बल्कि अपने से भिन्न चेतन के लिए होते हैं

हम अपने जीवन में प्रतिदिन देखते हैं कि जितने भी जड़-प अथवा यन्त्र हैं, उनका स्वयं अपने लिए कोई प्रयोजन (Purpose or नहीं होता बल्कि वे किसी चेतन के प्रयोग या भोग के लिए ही हैं। उदाहरण के तौर पर जैसे टेलीफ़ोन स्वयं अपने लिए नहीं है ब चेतन मनुष्यों के प्रयोग के लिए है। टेलीफ़ोन रूपी यन्त्र द्वारा वो

वाला या सुनने वाला मनुष्य उससे भिन्न सत्ता है। ठीक इसी प्रकार, मनुष्य के कान और मुखादि इन्द्रियाँ भी स्वयं अपने लिए नहीं हैं बल्कि चेतन आत्मा के प्रयोग के लिए हैं और आत्मा की स्वयं अपनी सत्ता कानों तथा मुख से अलग है।

सभी जानते हैं कि कोई भी मकान, मकान ही के लिए नहीं होता, बल्कि वह किसी चेतन मनुष्य के रहने के लिए होता है। मकान में रखी हुई चारपाई या कुर्सी भी चेतन मनुष्य ही के प्रयोग के लिए होती है। अतः यदि शरीर से भिन्न कोई चेतन सत्ता नहीं है तो शरीर का कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता। क्या शरीर, शरीर ही के लिए है? नहीं, जैसे मकान या चारपाई का होना ही सिद्ध करता है कि मकान में रहने वाला अथवा चारपाई पर विश्राम करने वाला इन दोनों से भिन्न कोई चेतन सत्ता (मनुष्य) है, वैसे ही शरीर के अस्तित्व ही से यह सिद्ध है कि शरीर रूपी शैय्या में विश्राम करने वाला भी शरीर से भिन्न कोई चेतन सत्ता है।

मकान में सफ़ाई की जाती है, पंखा चलाया जाता है, बिजली जगाई जाती है या पानी बहाया जाता है—किसी चेतन ही के प्रयोग के लिए। ठीक इसी प्रकार, शरीर-रूपी मकान में जो श्वास-प्रश्वास क्रिया है, रक्त-संचार है या पाचन-अग्नि आदि हैं, वे भी किसी चेतन सत्ता के प्रयोग के लिए हैं। उसी चैतन्य का नाम 'आत्मा' है। जब वह आत्मा इस शरीर को छोड़ जाती है तो श्वास-प्रश्वास क्रिया रक्त-संचार, पाचन-क्रिया आदि बन्द हो जाते हैं क्योंकि जिसके लिए वे थे, अब वह तो वहाँ से चला ही गया है। आप ज़रा सोचिए कि जब मकान में रहने वाला ही कोई नहीं है तो पंखा किस प्रयोजन से चले, अग्नि किसके लिए जले, प्रकाश किसके लिए हो? इसी प्रकार, जब आत्मा ही चली जाती है तो शरीर की सभी क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं।

हम यों भी कह सकते हैं कि जब मकान टूट-फूट जाता है अथवा उसमें जब हवा, रोशनी आदि सुखदायक प्रबन्ध ठीक नहीं रहते तो

मनुष्य उस मकान को छोड़ जाता है। ठीक उसी प्रकार, जब शरीर या इसमें होने वाली आवश्यक क्रियाएँ ठीक नहीं रहतीं तो आत्मा भी इस शरीर को छोड़ जाती है। इन सभी दृष्टान्तों से तथा युक्तियों से स्पष्ट है कि आत्मा शरीर से एक अलग चेतन सत्ता है।

भोग्य पदार्थ स्वयं अपने लिए नहीं होते बल्कि 'चेतन भोक्ता' के लिए होते हैं

सभी जानते हैं कि "यह संसार भोग्य पदार्थों से भरा पड़ा है। यहाँ अनेक प्रकार के फल-फूल, बनस्पति, अनाज आदि आदि हैं ?" प्रश्न उठता है—"क्या यह फल स्वयं के लिए हैं ?" ऐसा तो हम कभी भी नहीं देखते कि फल स्वयं स्त्रयं को खा रहे हों या जल स्वयं को नहला कर हर्ष का अनुभव कर रहा हो। बल्कि हम सदा देखते हैं कि कोई चैतन्य सत्ता ही इन्हें भोगती है। अतः जिस प्रकार प्रकृति के अन्य पदार्थ किसी चैतन्य सत्ता ही के भोग के लिए हैं; उसी प्रकार स्वयं शरीर, जो भी प्रकृति ही का बना हुआ है, किसी चैतन्य सत्ता ही के भोग के लिए है। शरीर द्वारा सुख भी किसी चैतन्य सत्ता को होता है और दुःख भी उसी चैतन्य सत्ता ही को होता है और शरीर द्वारा अनेक प्रकार के पदार्थों को भोग कर हर्ष भी आत्मा ही को होता है। शरीर भोग्य है, भोक्ता इससे भिन्न है। अतः आत्मा को शरीर से अलग मानना ही युक्ति-युक्त बात है।

शरीर रूपी मोटर का परिचालक होने से आत्मा अलग है

हम प्रतिदिन यह देखते हैं कि प्रकृति के बने हुए यन्त्र स्वतः ही नहीं चलते। उन्हें चलाने वाला, इनका बटन दवाने वाला, उनमें पैट्रोल या इंधन भरने वाला, समय-समय पर उनकी सफ़ाई आदि का ख्याल करने वाला, उनसे भिन्न कोई चेतन परिचालक (Driver) या कर्त्ता (Worker) अवश्य होता है। इसी प्रकार, इस शरीर-रूपी

मोटर को भोजन रूपी ईंधन देने वाला, 'भोजन कमाने', वनाने और समय पर खाने का 'ध्यान रखने वाला', इस शरीर रूपी यन्त्र या मशीन के सफ़ाई की 'संभाल करने वाला' और इसमें जो अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें 'चलाने वाला' कोई चेतन ज़रूर है। उसे ही 'आत्मा' कहा जाता है। मोटर में भी जव ड्राईवर एक विशेष कल पर दवाव डालता है तो मोटर के सभी कल-पुर्ज़े स्वतः ही चलने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार, आत्मा, जोकि भृकुटि में वास करती है, भी अपनी चेतनता से मस्तिष्क को प्रेरित करके सारे शरीर को चलाती है। शरीर स्वतः ही नहीं चलता रहता।

इञ्जन में जव ईंधन ख़त्म हो जाता है या होते हुए भी वह जलता नहीं या शक्ति के रूप में परिवर्त्तित नहीं होता तव इञ्जन तो केवल रुक जाता है, वह व्यवस्था को ठीक करने की वात नहीं सोचता वल्कि कोई चेतन सत्ता ही उसकी उस त्रुटि का अनुभव करके उसे ठीक करने की युक्ति को अपनाती है। ठीक इसी प्रकार, मान लीजिए कि मनुष्य को भोजन नहीं मिला या मिला है तो पचता नहीं और शक्ति के रूप में परिवर्त्तित नहीं होता। तव शरीर से भिन्न कोई चेतन ही भोजन न मिलने की अवस्था में, शरीर को ठीक करने के लिए कोई औषधि-उपचार करता है। अतः स्पष्ट है कि चेतन के विना तो शरीर चल ही नहीं सकता और शरीर को वनाये रखने तथा सुरक्षित रखने का कोई प्रवन्ध ही नहीं कर सकता और उसकी गति-विधि को कोई नियन्त्रित (Controlled) तथा नियमित ही नहीं कर सकता।

आत्मा मस्तिष्क से भी अलग सत्ता है

विज्ञान के इस युग में वहुत-से लोगों की मान्यता है कि मनुष्य का मस्तिष्क ही सब-कुछ करता है। शरीर को नियन्त्रण और नियम में रखने वाला भी मनुष्य का मस्तिष्क ही है। परन्तु आप विचार करने पर इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि यह मान्यता ठीक नहीं है। मस्तिष्क तो आँखों द्वारा भेजे हुए चित्रों को और कानों द्वारा भेजे हुए ध्वनि-

प्रभावों को पकड़ता-मात्र है, परन्तु उनकी व्याख्या (Interpretation) तो आत्मा ही करती है। मस्तिष्क उन प्रभावों के भाव को नहीं जान सकता। मस्तिष्क तो केवल कण्ट्रोल रूम (नियन्त्रणालय) और कण्ट्रोल करने के लिए एक यन्त्र है, वह कण्ट्रोलर नहीं है। कानों द्वारा जो शब्द सुने जाते हैं, उन शब्दों को अथवा इस ध्वनि को मस्तिष्क ग्रहण करता है, परन्तु उन शब्दों का अर्थ क्या होता है, उनको बोलने वाले का अभिप्राय क्या है, अथवा वह किस 'भाव' को व्यक्त करना चाहता है, उनको समझने वाला और अनुभव (Feel) करने वाला तो मस्तिष्क से भिन्न कोई चैतन्य ही है। वही चैतन्य सत्ता 'आत्मा' है। वह न केवल उन शब्दों या चित्रों आदि का अर्थ और भाव समझती है, बल्कि उनका अनुभव भी करती है।

मुक्ति की इच्छा से सिद्ध है कि आत्मा शरीर और मस्तिष्क से भिन्न है

संसार में हरेक मनुष्य की यह तो इच्छा होती है कि उसे दुःख न हो। विचारवान व्यक्ति तो दुःख से सदा के लिए निवृत्ति प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। वे समझते हैं कि शरीर और मस्तिष्क भी आज की दुनिया में दुःख ही के साधन बने हुए हैं। अतः वे इनसे भी छुटकारा पाना चाहते हैं। मुक्ति की इस इच्छा से भी सिद्ध है कि शरीर और मस्तिष्क से भिन्न कोई चेतन और विचारशील सत्ता है जो कि शरीर के बन्धन से भी छूटना चाहती है। यदि आत्मा नाम की कोई चेतन सत्ता न होती तो शरीर स्वयं से ही छुटकारा पाने की इच्छा न कर सकता या मस्तिष्क अपने ही से मुक्त होने की कामना न करता।

पुनश्च, शरीर-रहित मुक्ति की अवस्था की इच्छा से एक तो यह सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न ज़रूर कोई अविनाशी सत्ता है जो कि शरीर के नाश होने पर भी रहती है और, दूसरे, यह सिद्ध होता है कि वह चेतन सत्ता उस शरीर से पहले भी थी क्योंकि यदि इस शरीर

से पहले उसने कभी मुक्ति का अनुभव न किया होता तो वह अब भी मुक्ति की कामना न करती, क्योंकि उसे कामना या इच्छा सदा उसी पदार्थ या अनुभव के लिए होती है जो पहले कभी उसे प्राप्त थी। अतः मुक्ति की इच्छा से यह स्पष्ट है कि शरीर से भिन्न कोई चेतन और नित्य सत्ता है जो शरीर से पहले भी थी और वह इस शरीर के अन्त होने के बाद भी रहेगी।

अब यह प्रश्न है कि यदि सचमुच ही शरीर से भिन्न आत्मा का कोई अपना नित्य अस्तित्व है तो क्या हम उस आत्मा को देख भी सकते हैं? यदि हाँ तो कैसे और यदि हम नहीं देख सकते तो क्यों?

क्या हम आत्मा को देख सकते हैं?

हम आत्मा को देख सकते हैं या नहीं? इसका उत्तर जानने से पहले हमें थोड़ा-कुछ इस बारे में विचार कर लेना चाहिए कि **देखना** किसे कहते हैं। मान लीजिए कि हमारी आँखों के सामने गुलाब का एक फूल पड़ा है। हम आँखों द्वारा तो उसके केवल बाहरी **रूप और रंग** ही को देखते हैं। परन्तु केवल इतना देखना या इतना ही प्रत्यक्ष ज्ञान तो काफ़ी नहीं है। बल्कि, फूल की **सुगन्धि** भी तो उसकी एक विशेषता होती है। लेकिन हम सुगन्धि को तो इन आँखों से देख ही नहीं सकते। उसे तो हम नासिका द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। अतः इस बात की ओर ध्यान दीजिए कि केवल आँखों द्वारा किसी वस्तु के **रूप** ही का प्रत्यक्ष करना उस वस्तु को देखने, मानने या अनुभव करने के लिए सब-कुछ नहीं होता, बल्कि हमें नासिका द्वारा उसकी सुगन्धि का अनुभव करने से तथा हाथों द्वारा उसकी कोमलता आदि का अनुभव करने से भी उस वस्तु के अस्तित्व का और उसकी विशेषता का भान होता है तथा उस वस्तु की प्रत्यक्षता महसूस होती है। फूल की सुगन्धि, कोमलता और आकृति का अनुभव करना भी फूल को एक प्रकार से देखना ही है।

दूसरी बात यह है कि हम आँखों द्वारा जिस रूप का, कानों द्वारा

जिस शब्द का, नाक द्वारा जिस सुगन्धि का और हाथों द्वारा जिस कोमलता का अनुभव करते हैं, वे तो उस वस्तु के केवल गुण ही हैं, वस्तु तो उनसे भिन्न है। अतः सिद्ध है कि किसी वस्तु के गुणों का प्रत्यक्ष करना ही उसे देखना है और उसके गुणों को देखने अथवा अनुभव करने से ही हम वस्तु के अस्तित्व को प्रायः मान लिया करते हैं। उदाहरण के तौर पर दूध में मिठास रूपी गुण का अनुभव करके हम उसमें चीनी का अस्तित्व मान लिया करते हैं। लोहे में ऊष्णता का अनुभव करके हम उसमें अग्नि का अस्तित्व स्वीकार कर लिया करते हैं और बिजली के पंखे को चलाते हुए देखकर हम बिजली के अस्तित्व को मान लेते हैं।

ठीक इसी प्रकार, हम आत्मा को भी देख सकते हैं। जहाँ इच्छा, विचार, सुख-दुःख का अनुभव, पुरुषार्थ आदि, गुण या लक्षण हैं वहां हमें आत्मा का अस्तित्व मानना चाहिए, क्योंकि इन गुणों को देखना ही आत्मा को देखना है। ये गुण प्रकृति के किसी भी पदार्थ में हम कभी भी नहीं देखते अतः जिसमें ये गुण हैं, उसे हमें प्रकृति से एक भिन्न सत्ता, एक चेतन सत्ता अर्थात् एक 'आत्मा' मानना चाहिए। इन गुणों की प्रत्यक्षता को हमें आत्मा की प्रत्यक्षता अर्थात् आत्मा का दर्शन मानना चाहिए। आत्मा के गुणों को देखकर तो आत्मा को सभी मनुष्य देख सकते हैं।

दिव्य-दृष्टि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार

इसके अतिरिक्त, अपने आहार-व्यवहार की शुद्धि तथा मन की पवित्रता आदि नियमों का पालन करने तथा योगाभ्यास करने से भी हम परमपिता परमात्मा की कृपा से दिव्य-दृष्टि द्वारा आत्मा का दिव्य-प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कार कर सकते हैं। आत्मा इन प्रकृतिकृत नेत्रों द्वारा देखी जा सकने वाली या अन्यान्य इन्द्रियों द्वारा अनुभव की जाने वाली सत्ता तो है नहीं क्योंकि एक तो इन इन्द्रियों द्वारा केवल प्रकृति ही के तत्वों का अनुभव हो सकता है जबकि आत्मा प्रकृति से एक

भिन्न सत्ता है, दूसरे आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और हमारी इन्द्रियाँ तो कई अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृतिकृत सत्ताओं का भी अनुभव नहीं कर सकतीं। और, तीसरी बात यह है कि अनुभव या प्रत्यक्ष करने वाली तो आत्मा ही है, इन्द्रियाँ तो साधन हैं। अतः इन्द्रियाँ भला आत्मा का क्या अनुभव करेंगी ? आत्मा का साक्षात्कार तो स्वयं आत्मा ही कर सकती है और वह तब कर सकती है जब उसे ज्ञानरूपी दर्पण और योगरूपी सूक्ष्म दिव्य-चक्षु प्राप्त हो। लौकिक रीति में भी हमारी आँखें भले ही अन्य वस्तुओं को देख सकती हैं परन्तु वे स्वयं को तब देख सकती हैं जब उन्हें कोई दर्पण मिले और आँखें स्वयं भी ठीक अवस्था में हों। इसी प्रकार, जिन मनुष्यों का आत्मिक-चक्षु अथवा दर्पण ठीक नहीं है, वे उसके अणु-रूप अथवा ज्योति-रूप का प्रत्यक्ष दर्शन तो नहीं कर सकते; हाँ उसके गुणों की प्रत्यक्षता (जैसे कि हम ऊपर बता आये हैं) तो सभी अनुभव करते हैं हीं। कौन है जिसे अपने अस्तित्व का भान अथवा अनुभव नहीं होता ? 'मैं हूँ',—यह तो सभी कहते और मानते ही हैं। अपने बारे में ऐसा तो कोई भी मनुष्य नहीं कहता कि—'मैं नहीं हूँ' अथवा—"मेरा तो अस्तित्व ही नहीं है।" यदि कोई मनुष्य ऐसा कहे भी तो भी उसके कहने से यही सिद्ध होगा कि वह है क्योंकि निज अस्तित्व के बिना तो कोई कुछ कह भी नहीं सकता।

आत्मा अपने स्वरूप को भूली कैसे और संसार में आत्मा के बारे में मत-भेद क्यों है ?

अब जहाँ तक आत्मा के गुणों या लक्षणों अर्थात् इच्छा, अनुभव, स्मृति आदि का प्रश्न है, इनसे तो सभी परिचित हैं हीं, परन्तु आत्मा इस सृष्टि में कहाँ से आई, कब आई, उसने कितने जन्म लिए और उसके संस्कारों में कब परिवर्त्तन आया, ऐसे-ऐसे जो प्रश्न हैं, उनके बारे में आज संसार में अज्ञान और वाद-विवाद हैं, इसका कारण यही है कि आत्मा जन्म-मरण के चक्कर में आने के कारण अपने परिचय को भूल

गई है और अपने अशुद्ध संस्कारों तथा वासनाओं के कारण वह स्व-रूपस्थित भी नहीं है। आत्मा के बारे में पूर्ण और यथार्थ परिचय तो केवल एक सत्य-स्वरूप, अजन्मा परमपिता परमात्मा ही दे सकते हैं। जब तक वह अवतरित होकर आत्माओं के स्वरूप का, धाम का, आवागमन तथा अवस्थाओं आदि का परिचय न दें तब तक आत्मा को अपने विषय में उपर्युक्त प्रश्नों पर पूर्ण प्रकाश नहीं मिल सकता। परमपिता परमात्मा शिव ने आत्मा की स्वरूप-विस्मृति के बारे में निम्नलिखित स्पष्टीकरण दिया है।

जन्म-जन्मान्तर शरीर का संग करते रहने के कारण ही आत्मा अपने निजि स्वरूप को भी भूल गई और आज कई आत्माएँ तो अपने अस्तित्व को भी नहीं मानतीं। देह के साथ आत्मा का चिरकाल से इतना घनिष्ट और निकट का सम्बन्ध रहा है और देह द्वारा ही चूँकि उसे सुख-दुःख आदि का अनुभव होता रहा है और देह का भान उसे रहता रहा है, इस अभ्यास से उसने देह के साथ तदात्म्य अथवा एकता मान ली है। जैसे कोई राजकुमार शिशु अवस्था में अपने राजमहल और माता-पिता से बिछुड़ जाय और जंगल के भेड़ियों से जा मिले और उनके निरन्तर और चिरस्थायी संग से स्वयं को भी एक भेड़िया ही मानने लगे, ठीक ऐसी ही स्थिति आज आत्मा की हुई है।

परन्तु अब परमपिता परमात्मा शिव पुनः अपना भी परिचय दे रहे हैं और मनुष्यात्माओं के ८४ जन्मों के आदि, मध्य और अन्त की कहानी भी सुना रहे हैं तथा आत्मा के स्वरूप में स्थिति की तथा सम्पूर्ण पवित्रता, सुख और शान्ति की प्राप्ति की सहज विधि भी समझा तथा सिखा रहे हैं।

—०—

'मैं कौन हूँ ? शरीर से भिन्न आत्मा क्या चीज़ है ?'

अपने सारे दिन की बात-चीत में मनुष्य प्रतिदिन न जाने कितनी बार 'मैं' शब्द का प्रयोग करता होगा। परन्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि प्रतिदिन 'मैं' और 'मेरा' शब्द का अनेकानेक बार प्रयोग करने पर भी मनुष्य यथार्थ रूप में यह नहीं जानता कि 'मैं' कहने वाली सत्ता का स्वरूप क्या है, अर्थात् 'मैं' शब्द जिस वस्तु का वाचक है, वह वस्तु क्या है ? यह कैसी विडम्बना है कि आज मनुष्य ने साइंस द्वारा बड़ी-बड़ी शक्तिशाली चीज़ें तो बना डाली हैं, उसने संसार की अनेक पहेलियों का उत्तर भी जान लिया है और वह अन्य अनेक जटिल समस्याओं का हल ढूंढ़ निकालने में खूब लगा हुआ है परन्तु यह "मैं, मैं" कहने वाला कौन है, इसके बारे में वह सत्यता को नहीं जानता अर्थात् वह स्वयं को नहीं पहचानता ! आज आप किसी मनुष्य से यह प्रश्न पूछिये कि--"आप कौन हैं ? अथवा आपका क्या परिचय है?" तो वह झट अपने शरीर का नाम बता देगा अथवा शरीर-निर्वाह के लिए उसने दुकानदारी, व्यापार आदि का जो साधन अपना रखा है अथवा दिन-रात जो धन्धा वह करता है, वह उसका नाम बता देगा। उदाहरण के तौर पर डॉक्टरी का धन्धा करने वाला कहेगा कि मैं डॉक्टर हूँ और कोई मनुष्य या तो कहेगा कि—"मेरा नाम बनारसीदास है।" तो प्रश्न उठता है कि 'बनारसी दास' तो शरीर का नाम है, तब क्या 'मैं' कहने वाली सत्ता शरीर ही है ?

क्या शरीर ही सब-कुछ है ?

आप इस बात को जानते होंगे कि आज़ संसार में करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं जो कहते हैं कि यह शरीर ही सब-कुछ है, इससे भिन्न आत्मा नाम की कोई चीज़ ही नहीं है। वे कहते है कि—"जब तक मनुष्य का शरीर है और जब तक उसमें श्वास-प्रश्वास क्रिया, मस्तिष्क का व्यापार, रक्त का संचार, हृदय की गति आदि-आदि ठीक कार्य कर

रही हैं, तब तक ही मनुष्य का जीवन है और इसके सिवा कोई चेतन शक्ति या कोई अनादि-अविनाशी वस्तु नहीं है।" वह कहते हैं कि—"शरीर से भिन्न किसी चेतन वस्तु के अस्तित्व का कोई प्रमाण ही नहीं है।" इस प्रकार, वे स्वयं को देह मान कर, देह-अभिमानी बने हुए हैं और उसके परिणामस्वरूप दुःख भोग रहे हैं।

अतः अब हम विवेक और अनुभव के आधार पर यह सत्यता स्पष्ट करेंगे कि वास्तव में देह से भिन्न एक चेतन सत्ता भी है। यह एक नित्य वस्तु है और 'मैं' अथवा 'आत्मा' शब्द उसी वस्तु का वाचक है और इसलिए, स्वयं को शरीर मानना एक ऐसी भूल करना है जिस ही के परिणामस्वरूप मनुष्य को अनेकानेक प्रकार के दुःख होते हैं।

सुख दुःख आदि का अनुभव आत्मा ही को होता है

जब मनुष्य आँखों द्वारा देखता है, कानों द्वारा सुनता है, मुख द्वारा खाता है या अन्य किसी इन्द्रिय द्वारा अन्य कोई कार्य करता है तो इन कर्मों के साथ-साथ उसे अनुभव अवश्य हुआ करता है। उदाहरण के तौर पर, मान लीजिए कि कोई निर्धन व्यक्ति किसी मनुष्य के पास आकर कहता है कि—"मेरी माताजी बहुत सख्त बीमार हैं। उनकी चिकित्सा के लिए मेरे पास धन नहीं है। आप मेरी कुछ सहायता कीजिए।" अब कान तो इन शब्दों को केवल सुनने ही का साधन है परन्तु कानों द्वारा इन शब्दों को सुनकर दया, करुणा, सहानुभूति आदि का जो अनुभव होता है वह कानों को नहीं होता बल्कि एक चेतन सत्ता को होता है जिसे 'आत्मा' कहते हैं।

इसी प्रकार, मान लीजिए कि कोई व्यक्ति, एक मनुष्य के पास स्नेह-पूर्वक एक पुष्प ले जाकर उसे भेंट करता है। अब आँखें तो केवल देखने का साधन-मात्र हैं, वे अन्य दृष्यों की तरह इस दृष्य को भी प्रस्तुत करती हैं, परन्तु दूसरे मनुष्य के स्नेह को जानने और फूल की सुन्दरता को देखकर हर्षित होने का जो अनुभव होता है, वह आँखों से

भिन्न एक चेतन सत्ता को होता है ।' वह चेतन सत्ता ही आत्मा है। अगर हर्ष का अनुभव आँखों या कानों को होता तो विषय के हट जाने पर यह हर्ष समाप्त हो जाता परन्तु हम देखते हैं कि बहुत बार फूल को हटा लेने के बाद भी हम उस मनुष्य के स्नेह का तथा फूल की सुन्दरता और सुगन्धि का विचार करके हर्ष का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार, हमारे सामने जब कोई व्यक्ति आता है तो न केवल हम उसे देखते हैं, बल्कि उसे देखते ही हम विचार करते हैं कि हम उससे परिचित हैं या अपरिचित अथवा यह हमारा मित्र है या शत्रु और विचार के साथ-साथ हमें उसके प्रति हर्ष या दुःख का 'लगाव या अलगाव' का अनुभव भी होता है। विचार करना और सुख-दुःख का अनुभव करना आँखों का कर्म नहीं है बल्कि उससे भिन्न एक 'विचारशील और अनुभवशील' अर्थात् चेतन सत्ता का स्वभाव है जिसे 'आत्मा' कहा जाता है।

सुख-दुःख, आश्चर्य, उत्सुकता, दया आदि का अनुभव करने का गुण प्रकृति का गुण नहीं है। हम संसार में प्रकृति के किसी भी पदार्थ को विचार करते हुए अथवा 'हर्ष या शोक' करते हुए नहीं देखते। अतः मानना पड़ेगा कि चेतनता हमारे प्रकृतिकृत शरीर का गुण नहीं है, बल्कि इससे भिन्न किसी अन्य पदार्थ का गुण है।

इन्द्रियों के अनुभवों को इकट्ठा करने और याद रखने वाली आत्मा इन्द्रियों से अलग है

सभी जानते हैं कि आँखें केवल देखने ही का उपकरण हैं, उन द्वारा हम सुन नहीं सकते। इसी प्रकार, कान केवल सुनने ही के उपकरण हैं उन द्वारा हम देख नहीं सकते। अतः विचार कीजिए कि जब हम किसी मनुष्य को अपने सामने खड़ा देखते हैं, उसके वचन सुनते हैं और हमारे मुख से यह शब्द निकलते हैं कि—"इस मनुष्य को तो हमने पहले भी देखा है और इसके वचन तो हमने पहले भी सुने हुए हैं" तो यह बात कौन कहता है ? पूर्व काल की स्मृति का गुण

आँख या कान का गुण तो है नहीं और दूसरी बात यह भी है कि आँख को तो यह मालूम नहीं है कि कान ने क्या सुना है और कान को भी यह मालूम नहीं है कि आँख ने क्या देखा है। तो स्पष्ट है कि आँखों और कानों से भिन्न तथा अलग एक चेतन सत्ता है जो इन द्वारा किए हुए **अनुभवों को जोड़ती है और पूर्व काल में** हुए अनुभवों को **याद रखती है** और वर्त्तमान काल में हुए अनुभवों से उनका मिलान करके मुख-रूपी तीसरी इन्द्रिय द्वारा कहती है कि—"इस मनुष्य को मैंने पहले भी देखा है।" उसी का नाम 'आत्मा' है। उस आत्मा में ही **'पहचान, स्मृति'** आदि गुण हैं। वही इन्द्रियों द्वारा जानती, पहचानती और अनुभव करती है।

इच्छा और पुरुषार्थ, शरीर से भिन्न आत्मा ही के लक्षण हैं

हम देखते हैं कि मनुष्य इच्छा सदा उस वस्तु की करता है जिसे वह सुख देने वाली मानता है इच्छा करने के बाद वह उसे प्राप्त करने के लिए विचार करता है अथवा **योजना बनाता है** और तब उसके लिए **पुरुषार्थ** करने लगता है। आखिर उसे प्राप्त करके वह सुख का अनुभव करता है और कहता है कि—"मेरी इच्छा पूर्ण हुई।" अब सोचने की बात है कि **इच्छा और पुरुषार्थ** करने वाला कौन है ?

'मेरी इच्छा पूर्ण हुई'—इन शब्दों से तो यह सिद्ध होता है कि जिसकी इच्छा पूर्ण हुई और जिसने इच्छा की थी, वह एक ही है। इससे स्पष्ट है कि यह अनुभव अथवा ये शब्द शरीर के नहीं हो सकते क्योंकि शरीर तो इच्छा के पूर्ण होने के समय वही नहीं होता जोकि इच्छा उत्पन्न होने के समय होता है, बल्कि वह तो काल के कारण बाल्यावस्था से युवा अवस्था अथवा वृद्धादि अवस्था में बदल जाता है। इससे प्रमाणित है कि शरीर से भिन्न एक अन्य सत्ता है जो कि चेतन है, और जो कि पदार्थों के बारे में विचार करती है कि वह सुख-दायक हैं या दुःखदायक, फिर वह उनमें **चुनाव करती है** और सुख-

दायक वस्तु को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करती है और अन्त में उसके प्राप्त होने पर सुख का अनुभव करती है। शरीर तो अन्य पदार्थों की तरह स्वयं भी सुख-दुःख का 'साधन' है, वह सुख-दुःख का 'भोक्ता नहीं है। शारीरिक सुख और शरीर द्वारा सुख की इच्छा करने वाला तथा शरीर को भी स्वस्थ रखकर उस सुख को भोगने वाला तो शरीर से अलग ही है। शरीर अनुभव नहीं करता है बल्कि शरीर का भी अनुभव करने वाली शरीर से अलग एक चेतन सत्ता है। उसी को 'आत्मा' कहते हैं।

चेतना, अनुभव, स्मृति, इच्छा आदि गुण या लक्षण शरीर के आकस्मिक गुण भी नहीं हैं

ऊपर हमने चेतनता, सुख-दुःख के अनुभव की योग्यता, स्मृति ज्ञान-पहचान, इच्छा और पुरुषार्थ आदि जिन गुणों वा लक्षणों का उल्लेख किया है, यह गुण वा लक्षण प्रकृति के किसी भी पदार्थ में हम नहीं देखते। अतः यह गुण शरीर के भी नहीं हो सकते क्योंकि शरीर भी प्रकृतिकृत ही है। यदि ये गुण शरीर के स्वाभाविक गुण होते तो शरीर में वे सदा ही रहते क्योंकि स्वाभाविक गुण सदा ही अपने आधार में रहते ही हैं जैसे कि चीनी में मिठास रहती है। परन्तु हम देखते हैं कि मृत्यु आदि अवस्थाओं के समय शरीर में चेतना, स्मृति इत्यादि गुण नहीं होते। इससे सिद्ध है कि ये गुण शरीर के स्वाभाविक गुण नहीं हैं।

कई लोग कहते हैं कि—"ये गुण शरीर या प्रकृति के स्वाभाविक गुण तो नहीं हैं परन्तु प्रकृति के तत्त्व जब एक विशेष रीति से मिलकर विशेष अवस्था में होते हैं तो आकस्मिक ही उनमें चेतना का गुण आ जाता है।" वे कहते हैं कि "चेतना, विचार आदि किसी आत्मा-वात्मा के गुण नहीं हैं, बल्कि जब प्रकृति के तत्त्व मिलकर शरीर का रूप धारण करते हैं और शरीर की सभी क्रियायें ठीक चलती हैं तब उस अवस्था में शरीर रूपी प्रकृति में अनुभव की शक्ति, स्मृति की

योग्यता इत्यादि लक्षण आ जाते हैं।" परन्तु वास्तव में यह कथन ग़लत है क्योंकि यह एक नियम है कि जो गुण कारण में न हो वह कार्य में भी नहीं हो सकता। जबकि हम प्रकृति के तत्त्वों में चेतनता नहीं देखते तो स्पष्ट है कि प्रकृति के कार्यों अर्थात् पदार्थों में भी वह गुण नहीं हो सकते। अच्छा मान लीजिए कि कोई गुण जो प्रकृति के तत्त्वों में न हो वह उनको मिलाकर बनाई गई वस्तु में हो भी, तो भी उनको उस तरह वनाने वाला कोई 'चेतन' 'निमित्त' चाहिए क्योंकि बिना किसी विचारवान चेतन के प्रकृति के तत्त्व भी एक विशेष प्रयोजन के लिए स्वतः ही मिलकर एक विशेष पदार्थ अथवा अवस्था नहीं बना सकते। दूसरी विशेष वात यह भी है कि प्रकृति के तत्त्व अथवा पदार्थं तो भोग्य पदार्थ हैं, वे स्वयं भोक्ता कैसे हो सकते हैं? वे तो अनुभव के विषय हैं, वे अनुभव करने वाले नहीं हैं। प्रकृति के पदार्थ तो "इच्छा की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री" हैं, वे स्वयं "इच्छा करने वाले" नहीं हो सकते; वे विचार के विषय तो हैं परन्तु विचार करने वाले नहीं हैं। बल्कि जब हम विचार कर रहे होते हैं तो हमें अपनी सत्ता का देह से अलग अनुभव भी होता है। हम अपने शरीर के बारे में भी जब विचार करते हैं तो हमें ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि हम विचार करने वाले हैं और शरीर हम से अलग है जिसके बारे में हम विचार कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त, हम देखते हैं कि जब कोई मनुष्य ध्यानावस्था में होता है अथवा दिव्य-चक्षु द्वारा कुछ साक्षात्कार कर रहा होता है तो उसके कान ठीक होते हुए भी वह अपने पास हो रही ध्वनि को या शब्दों को नहीं सुनता, उसके हाथ भले ही किसी चीज़ को छू रहे हों परन्तु उस चीज़ का भान उसे नहीं होता। तथापि वह अपने दिव्य नेत्र से कुछ देख रहा होता है और विशेष प्रकार का आनन्द अनुभव कर रहा होता है जिसका कि वह बाद में वर्णन भी करता है। इससे स्पष्ट होता है कि अनुभव करने वाली, स्मृति रखने वाली, विचार

करने वाली चेतन सत्ता इस देह से अलग है।

और तो क्या, बहुत बार एक शरीर में किसी दूसरी आत्मा (भूत) का भी प्रवेश या सन्निवेश हो जाता है और ऐसा बहुत बार अनुभव में भी आया है। इन सभी प्रमाणों से आत्मा की अलग सत्ता सिद्ध है।

आत्मा की सत्ता मस्तिष्क से अलग है

ऊपर हमने कुछेक युक्तियाँ देकर आत्मा के अस्तित्व की सत्यता को जतलाने की कोशिश की है परन्तु आज कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि विचार, स्मृति, अनुभव इत्यादि मस्तिष्क (Brain) ही के कार्य (Function) हैं। वे कहते हैं कि—"शरीर में स्नायुओं का जो जाल विछा हुआ है, उन द्वारा मस्तिष्क ही अनुभव करता, विचारता तथा निर्णय करके कर्मेन्द्रियों द्वारा काम करता है अथवा मस्तिष्क में बहुत सूक्ष्म रूप में मानो परमाणुओं के रूप में प्रकृति ही यह सोच-विचार करती है अथवा किसी विशेष प्रकार की विद्युत-शक्ति, किसी इलैक्ट्रॉनिक सिस्टम की तरह काम करती है।" परन्तु इस मत पर विचार करने पर आप मानेंगे कि यह ग़लत है क्योंकि एक तो हम देखते हैं कि प्रकृति की जितनी भी चीजें हैं, चाहे वे एलेक्ट्रॉनिक सिस्टम की तरह काम क्यों न करती हों, वे किसी चैतन्य के प्रयोग के लिये होती हैं, ये स्वयं अपने लिए नहीं होतीं, दूसरी बात यह है कि वे अपने भविष्य के बारे में चिन्तन करने अथवा भूत (Past) के बारे में सोचने में समर्थ नहीं होती और विशेष बात यह है कि उनमें किसी बात को विशेष दृष्टिकोण से देखने, उसका विशेष भाव निकालने और उसे विशेष प्रकार से महसूस करने की योग्यता नहीं होती। उदाहरण के तौर पर प्रकृति की बनी हुई कोई चीज ऐसी तो हो सकती है जो शब्दों को रेकार्ड कर ले परन्तु वह एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न प्रसंगों का भिन्न-भिन्न अर्थ ले और उस अर्थ को लेते समय एक विशेष प्रकार के सुख-दुःख, सहानुभूति आदि का अनुभव उसे हो, ऐसा कभी नहीं होता उदाहरण के तौर पर किसी तुला या तराजू पर यदि हम हाथ

रख दें तो वह यह तो प्रकट कर देगा कि उस पर कुछ वज़न पड़ गया है परन्तु वह यह भाव प्रकट नहीं कर सकता कि वह उस तराज़ू पर ग़लती से पड़ गया है या तराज़ू को ठीक करने के लिए रखा गया है या किसी अन्य कारण से रखा गया है। परन्तु चेतन सत्ता में यह गुण है कि यदि कोई मनुष्य किसी के सिर पर हाथ रखता है तो वह इस बात पर भी विचार करता है कि वह हाथ आशिष देने के लिए रखा गया, स्नेह प्रकट करने के लिए रखा गया, सिर को दबाकर सहलाने के विचार से रखा गया या अपमानित करने के भाव से रखा गया है और वह चेतन सत्ता उसका अनुभव भी करती है।

अतः स्पष्ट है कि अनुभव आदि का गुण मस्तिष्क में नहीं है। बल्कि जैसे आँखें देखने के लिए और कान सुनने के लिए चेतन आत्मा के साधन मात्र हैं, वैसे ही मस्तिष्क सोचने, विचारने, अनुभव करने आदि के लिए आत्मा का एक साधन मात्र है परन्तु सोच, विचार और अनुभव करने वाली तो आत्मा ही है। आत्मा शरीर और मस्तिष्क दोनों से अलग एक नित्य सत्ता है और 'मैं' शब्द आत्मा ही का वाचक है।

आत्मा क्या चीज़ है ?

ऊपर जो-कुछ वताया गया है उससे स्पष्ट है कि आत्मा शरीर से भिन्न एक विचारशील और अनुभवशील, अनादि-अविनाशी सत्ता है। आत्मा ज्योतिस्वरूप है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। जैसे आकाश में चमकता हुआ तारा हमें एक प्रकाशमान बिन्दु-सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही आत्मा भी ज्योति का एक तारा अथवा एक ज्योति-बिन्दु ही है। यह ज्योति-बिन्दु आत्मा हरेक मनुष्य-देह में भृकुटी में निवास करती है जहाँ पर कि भक्त लोग टीका लगाते हैं अथवा माताएँ बिंदी लगाती हैं। मस्तक में वास होने के कारण ही कहावत भी है कि "भृकुटि में चमकता है एक अजब तारा।" मस्तक में आत्मा का वास

होने के कारण ही मनुष्य जब अपने भाग्य के बारे में सोचता है या जब उसकी बुद्धि पर ज़ोर पड़ता है तो वह यहीं हाथ रखता है।

इस प्रकार, आत्मा को जानते हुए हरेक मनुष्य को चाहिए कि स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करे। आज स्वयं को अर्थात् आत्मा को न जानने के कारण ही देह के आधार पर मनुष्य काले-गोरे, अमरीकी, रूसी, गुजराती, महाराष्ट्रियन आदि के भेदों में जकड़ा हुआ है और इन भेदों के आधार पर ही आज लडाई-झगड़े हैं। देखा जाय तो वास्तव में यह देह तो आत्मा का चोला है। कोई काला सूट पहने या कोई सफ़ेद, इस बात पर भला झगड़ा क्यों? इसी प्रकार, देह के तथा देह की भिन्न भाषाओं या प्रान्तों के आधार पर झगड़ा क्यों?

पुनश्च, स्वयं को देह मानने के कारण ही मनुष्य में काम-क्रोधादि विकारों की उत्पत्ति होती है। मैं पुरुष हूँ, जवान हूँ, अमुक स्त्री है, आदि देह-अभिमान (Body-consciousness) के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य में काम की उत्पत्ति होती है। काम से उत्पन्न बाल-बच्चों में मनुष्य का मोह होता है। उनके मोह में आ कर ही मनुष्य अनेक प्रकार के साधन जुटाने की कामनाएँ करता तथा लोभ करता है। फिर साधनों तथा सम्पत्ति से युक्त होने पर उसमें अभिमान आ जाता है। जब उसके अभिमान को ठेस लगती है या उसकी कामना पूर्ण नहीं होती तो उसे क्रोध आता है। अतः देह-अभिमान (स्वयं को देह मानना) ही सभी विकारों अथवा पापों का तथा दुःखों का मूल है।

तो ऊपर यह जो बताया गया है कि शरीर से भिन्न एक चेतन सत्ता 'आत्मा' है, यह बताने का भाव यही है कि हम स्वयं को आत्मा ही निश्चय करें और आत्मिक दृष्टि से ही दूसरों को देखें ताकि हमारे जीवन में पवित्रता और शान्ति रहे। आत्मा का स्वधर्म पवित्रता (काम-क्रोध से रहित, पवित्र अवस्था) और शान्ति है। स्वयं को देह मानने से ही मनुष्य हिन्दू-मुसलमान-सिख या स्त्री-पुरुष तो काला-गोरा या गुजराती-मराठी के भेदों में अर्थात दैहिक धर्मों में फँसकर उलझा हुआ, दुःखी हो रहा है।

यह आत्मा कहाँ से आई है और इसे कहाँ जाना है ?

प्रायः लोगों को यह कहते सुना जाता है कि संसार एक मुसाफ़िर-खाना है और आखिर एक दिन तो हम सभी को यहाँ से जाना ही है। परन्तु हम कहाँ से आये हैं और हमें कहाँ जाना है, इसके बारे में मनुष्य को स्पष्ट रूप से जानना भी तो चाहिए। विचित्र बात है कि आज मनुष्यात्मा अपने उस प्यारे धाम अथवा देश को भी भूल चुकी है जहाँ से वह आई है और जहाँ उसे जाना है। आज वह अपनी मंजिल को भूल कर यहाँ ही के विषय-पदार्थों से मोह-ममता कर के फँस गई है और इसलिए उड़कर अपने घर वापस नहीं जा सकती!

इसी तरह, आज मनुष्यात्माएँ मुक्ति अथवा निर्वाण की भी इच्छा तो करती हैं और यह भी कहती हैं कि—"हे प्रभु, हमें अपने पास बुला लो, परन्तु यह जानना भी तो चाहिए कि मुक्ति की प्राप्ति होने पर मनुष्यात्मा कहाँ जाती है, वह ज्योति-लोक कैसा है और वहाँ आत्मा की क्या स्थिति होती है ?

अतः अब परमपिता परमात्मा शिव ने हमें दिव्य दृष्टि देकर जो साक्षात्कार कराये हैं, उनके आधार पर हम यह बतायेंगे कि यह आत्मा-रूपी अनादि-अविनाशी चेतन शक्ति इस सृष्टि रूपी कर्म-क्षेत्र में अथवा कर्मेन्द्रियों के संग्रह रूप देह में उभरी कहाँ से और अन्त में खेल खत्म करके इसे जाना कहाँ है ? इसका वास्तविक ठिकाना अथवा बसेरा कहाँ है ?

परमधाम का वासी आया देश बेगाने

जैसे कि पृष्ठ २३ पर चित्र में दिखाया गया है, लोक कुल तीन हैं। इसलिए परमात्मा को त्रिलोकीनाथ अथवा त्रिभुवनेश्वर कहा गया है। इन तीनों लोकों में से सबसे नीचे का लोक **कर्म-क्षेत्र, मनुष्य-सृष्टि** अथवा **"स्थूल-लोक"** कहाता है क्योंकि यहाँ सभी जीव-प्राणी स्थूल

देह धारण करते हैं और मनुष्य इन सभी प्राणियों में से मुख्य है और यहाँ जैसा कोई कर्म करता है वैसा ही फल वह भोगता है। यह सृष्टि नाटक-शाला अथवा लीला-धाम भी कहलाती है क्योंकि यहाँ आत्मा-रूपी ऐक्टर शरीर रूपी वेश धारण करके अपना-अपना पार्ट बजाती है। यह सृष्टि आकाश तत्त्व के अंशमात्र में है और यहाँ सदा ही मनुष्य-आत्माओं का अनादि ड्रामा अविरत (Non-Stop) गति से चलता ही रहता है। इस लोक में वचन अथवा ध्वनि भी है, संकल्प भी है, सुख-दुःख का भोग भी है और जन्म-मरण भी है। इसे 'मूवी-टॉकी' (Movie-Talkie, बोल-चाल वाली) दुनिया भी कहा जा सकता है।

...इस लोक के सूर्य और तारागण के पार, आकाश तत्त्व से भी पार एक अन्य लोक है जिसे 'सूक्ष्म लोक' कहा जाता है यह प्रकाश तत्त्व में है। यहाँ सबसे पहले ब्रह्मा-पुरी, फिर विष्णुपुरी, फिर शंकरपुरी है। यहाँ के देवताओं के शरीर प्रकाशमय और दिव्य हैं। यहाँ वचन तो हैं परन्तु ध्वनि नहीं है। यहाँ दुःख या मृत्यु नहीं है। इसे 'मूवी वर्ल्ड' (Movie World) भी कहा जाता है। इसी लोक को 'देव-लोक' भी कहा जाता है।
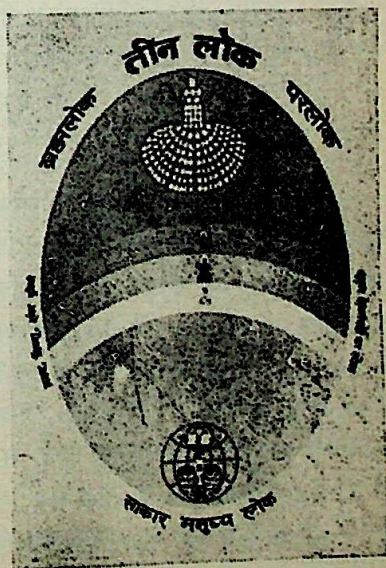
इसके भी पार एक अन्य लोक है जहाँ 'ब्रह्म' नाम का एक सूक्ष्म, दिव्य स्व-प्रकाश तत्त्व है। इसलिए इस लोक को, 'ब्रह्मलोक' भी कहते हैं। यहाँ ही आत्माएँ मुक्ति की अवस्था में रहती हैं। यहाँ से ही वे

सृष्टि-मंच पर आ कर शरीर में व्यक्त होती तथा कर्म करती हैं। इसी लोक को 'परलोक' परमधाम अथवा 'मुक्तिधाम' भी कहा जाता है। इसी का एक नाम 'शिवपुरी' भी है क्योंकि परमपिता परमात्मा शिव का यहीं वास है। इसे ही 'मूल-लोक' अथवा 'निराकारी-सृष्टि' भी कहा जाता है क्योंकि यहाँ आत्माएँ निराकार अर्थात् अशरीरी अवस्था में रहती हैं। यहाँ न सुख है, न दुःख, न संकल्प है, न वचन और न कर्म। यहाँ आत्मा निष्क्रिय होती है और मन अव्यक्त, तिरोभावित (Dormant), अथवा लीन (Merged) अवस्था में होता है।

सूक्ष्म लोक और ब्रह्मलोक को चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। इन्हें दिव्य-चक्षु द्वारा ही देखा जा सकता है। जब मनुष्य देह भान से न्यारा, आत्मा के स्वरूप में स्थित, परमपिता परमात्मा की स्मृति में लवलीन होता है तो प्रभु-कृपा से उसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त होने पर ही इस लोक का साक्षात्कार होता है।

इस लोक को दूसरे धर्मों के लोग 'आलमे अरवाहं' (रूहों की दुनिया) या 'हाईएस्ट हैवन' (Highest Heaven) भी कहते हैं। लगभग सभी धर्मों के लोग मानते हैं कि मुक्ति प्राप्त होने के बाद आत्मा ब्रह्मलोक को चली जाती है। उपनिषदों को मानने वाले भी कहते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद में लिखा है* कि "इन्द्रियों को जीतने वाली सभी के साथ पूर्ण अहिंसा से व्यवहार करने वाली मनुष्यात्मा 'ब्रह्मलोक को जाती है' परन्तु कई लोग इसका अर्थ 'ब्रह्मलोक में जाती है'—ऐसा न करके यह अर्थ करते हैं कि वह 'ब्रह्म का दर्शन' करती है"। हालाँकि उपनिषदों को मानने वाले यह भी कहते हैं कि उपनिषद में 'ब्रह्मलोक' शब्द का स्पष्ट प्रयोग है, फिर भी कई लोग ब्रह्मलोक के अस्तित्व को नहीं मानते और न मानने का कारण केवल

*ब्रह्मलोकम् अभिपद्यते—उपनिषद् के ये शब्द हैं।

यही बताते हैं कि यदि 'ब्रह्मलोक' भी कोई लोक होता तो दिखाई देता।

वास्तव में ब्रह्मलोक को इसलिए न मानना कि वह दिखाई नहीं देता, भूल करना है क्योंकि इस दलील का आधार लेकर तो कोई कहेगा कि आत्मा और परमात्मा का भी कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि मनुष्य तो चर्म-चक्षु से आत्मा और परमात्मा को भी नहीं देख सकते आत्मा और परमात्मा की बात तो अलग रही, मनुष्य के चर्म-चक्षु तो इस स्थूल, प्रकृतिकृत जगत् के भी बहुत से सत्पदार्थों को देखने में समर्थ नहीं हैं। परन्तु फिर भी उनके अस्तित्व को हम सभी मानते हैं क्योंकि चर्म-चक्षुओं से दिखाई दे सकना ही किसी पदार्थ के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार हम आत्मा और परमात्मा इत्यादि के अस्तित्व को मानते हैं। यद्यपि उनका दर्शन हम चर्म-चक्षुओं से नहीं कर सकते। उनके अस्तित्व को मानने का एक कारण यह भी है कि उनका साक्षात्कार दिव्य-चक्षु से होता है और उनका अनुभव भी दिव्य-बुद्धि ही से होता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मलोक, परलोक, परमधाम, शिवलोक, निर्वाणधाम, आलमे अरवाह या हाईएस्ट हैवन के अस्तित्व को भी मानना ही होगा क्योंकि न केवल ईश्वरीय वाक्यों से ही यह सिद्ध होता है कि इस नाम का एक लोक है जहाँ आत्मा निर्वाण अथवा मुक्ति (Liberation) की अवस्था में रहती है बल्कि इसके अतिरिक्त, परमपिता परमात्मा की कृपा से हममें से अनेकानेक बहनों तथा भाइयों को जो दिव्य-दृष्टि प्राप्त हुई है उसके आधार पर भी हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्मलोक नाम का लोक है जहाँ पर आत्मा-रूपी मुसाफिर का जाना होता है। वही सभी आत्माओं का ठिकाना अथवा मंजिल है।

वैसी भी साधारण विवेक की बात है कि यह मनुष्य-लोक तो कर्म और सुख-दुःख भोगने के लिए है। यहाँ तो आत्माएं शरीर रूपी वेष-भूषा धारण करके खेल अथवा क्रीड़ा करती हैं अथवा इस विराट

सृष्टि-लीला में अपना-अपना अभिनय करती हैं। इस सृष्टि को तो 'लीलाधाम' अथवा 'कर्मक्षेत्र' ही कहा गया है। अतः जब आत्मा देह से, कर्मों से तथा सुख-दुःख से मुक्त है, तब भला इस मनुष्य लोक में उसके रहने का प्रयोजन ही क्या है ? तो स्पष्ट है कि मुक्ति की अवस्था में आत्मा निर्वाणधाम (ब्रह्मलोक) में निवास करती है।

ब्रह्मलोक में मनुष्यात्मा की अवस्था

यहाँ आत्मा देह-रहित अवस्था में होती है। वहाँ वह विकर्ममुक्त निस्संकल्प और निष्क्रिय होती है क्योंकि उसे कोई कर्म तो करना ही नहीं होता। कई शास्त्रवादी कहते हैं कि मुक्ति में आत्मा का 'चैतन्य गुण' भी नहीं रहता। परन्तु वास्तव में आत्मा की चैतन्यता तो रहती है किन्तु उसकी चेतनता की अभिव्यक्ति नहीं होती। अन्य कई कहते हैं कि आत्मा निर्गुण है और लेप तथा विक्षेप से न्यारी है परन्तु वास्तव में बात यह है कि जब आत्मा ब्रह्मलोक में है तब उसके गुणों की भी 'अभिव्यक्ति' नहीं होती। वास्तव में तो आत्मा के अपने गुण हैं और मन उससे पृथक् कोई प्रकृतिकृत सत्ता न होने के कारण लेप-विक्षेप भी आत्मा ही को होता है, परन्तु होता है तब जब आत्मा मनुष्यलोक में शरीर धारण करती है। मुक्ति में न कर्मेन्द्रियाँ हैं, न कर्म और न कर्म-फल अर्थात् न सुख न दुःख। इन सभी से न्यारी अवस्था है, जिसका कुछ अनुभव इस मनुष्य-लोक में भी योगाभ्यास करने से तथा पवित्रता सम्बन्धी नियमों का पालन करने से ही हो सकता है।

—०—

क्या मन और बुद्धि आत्मा से अलग हैं ?

हरेक मनुष्य सारा दिन कुछ-न-कुछ संकल्प-विकल्प, सोच-विचार, इच्छा-प्रतिज्ञा, स्मृति-कल्पना आदि तो करता ही रहता है। प्रश्न उठता है कि यह कार्य किसके हैं ? क्या आत्मा ही इनका कर्त्ता है या अन्य कोई ? आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध कैसा है और वह शरीर द्वारा कैसा कार्य लेता है। क्यां आत्मा और शरीर से भिन्न 'मन' नाम की भी कोई तीसरी चीज़ है ?

इस विषय में कई अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि सारे विश्व में आत्मा तो एक ही है। वही आत्मा सारे शरीर में भी व्यापक है। परन्तु प्रश्न उठता है कि सारे शरीर में व्यापक होते हुए भी आत्मा एक ही समय में केवल एक ही इन्द्रिय के विषय का अनुभव क्यों कर सकती है, अधिक का क्यों नहीं और वह एक समय में केवल एक ही विचार क्यों कर सकती है, अधिक क्यों नहीं ? इसका उत्तर वे यह देते हैं कि आत्मा तो सारे शरीर में व्यापक ही है, परन्तु हरेक शरीर में आत्मा के साथ जो मन है, वह प्रकृतिकृत है और वह अति सूक्ष्म अणु के समान है। मन के अणु जितना महीन होने के कारण ही आत्मा उस द्वारा एक समय में एक ही विचार कर सकती है, अधिक नहीं। वे कहते हैं कि यह अणु-जितना मन ही कर्त्ता और भोक्ता है और लेप-विक्षेप भी इसी को होता है तथा संस्कार भी इसी में रहते हैं। आत्मा स्वयं तो सदा साक्षी और अकर्त्ता तथा अभोक्ता है। अब हमें निष्पक्ष भाव से सोचना है कि क्या उनका यह मन्तव्य ठीक है ?

आप देखेंगे कि वास्तव में अद्वैत वेदान्तियों की यह मान्यता ठीक नहीं है। इसमें त्रुटि यह है कि पहले तो सारे विश्व में एक ही आत्मा मान ली गई और सारे शरीर में भी उसे व्यापक मान लिया गया है और बाद में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि आत्मा सारे शरीर में व्यापक होते हुए भी एक समय में केवल एक ही

इन्द्रिय के विषय का अनुभव क्यों कर सकती है और एक समय में एक ही आत्मा होते हुए भी अनेक शरीरों में वे अनेक क्यों प्रतीत होती है ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए उन्होंने यह मानना ज़रूरी समझा कि विचार और अनुभव करने वाली चीज एक अणु-जैसी ही होनी चाहिए। अब आत्मा को तो वे सर्वव्यापक ही मानते रहे और ऊपर लिखित प्रश्न के उत्तर के लिये उन्होंने यह मान लिया कि आत्मा से अलग एक-एक मन है, वह प्रकृतिकृत और अणु-रूप है। अब देखा जाए तो यह सारा तरीका और सारी विचारधारा ही ग़लत है।

वास्तव में तो एक समय में एक ही विचार कर सकना तथा एक ही अनुभव कर सकना सिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं ही अणु-रूप है और आत्मा सारे शरीर में व्यापक नहीं है।

यह बात सिद्ध की जा सकती है कि सारे विश्व में एक ही आत्मा नहीं है बल्कि भिन्न-भिन्न संस्कारों वाली अनेक अणु-रूप, ज्योति-स्वरूप आत्माएँ हैं। दूसरी बात यह है कि मन-बुद्धि को ही कर्त्ता और भोक्ता मानना तथा आत्मा को अकर्त्ता और अभोक्ता समझना ही भूल है क्योंकि करने और भोगने की योग्यता तो चेतन आत्मा ही के लक्षण हैं न कि किसी प्रकृतिकृत सत्ता के। विचार करना, कर्म के लिए इन्द्रियों को प्रेरणा देना, अनुभव करना और अनुभव की स्मृति रखना आदि आदि सभी आत्मा ही की योत्यताएँ ; ये किसी प्रकृतिकृत मन की योग्यताएँ नहीं हो सकतीं।

यदि कर्म करने, सोचने, इच्छा करने, भोगने, अनुभव करने आदि की योग्यताएँ किसी प्रकृतिकृत सत्ता अर्थात् प्रकृतिकृत मन में हों तब तो जड़ प्रकृति और चेतन आत्मा में कोई भेद ही नहीं रहेगा ?

इच्छा, स्मृति, संकल्प, सुख-दुःख का अनुभव इत्यादि, यही तो

चेतन आत्मा के लक्षण हैं। यदि इन लक्षणों को हम प्रकृतिकृत मन-बुद्धि के लक्षण मान लेंगे तब तो मन-बुद्धि से भिन्न और अलग 'आत्मा' नाम की कोई चीज़ ही नहीं रहेगी। अतः एक समय में एक ही विचार और एक ही अनुभव होने से सिद्ध है कि विचार तथा अनुभव करने वाली स्वयं चेतन आत्मा ही अणु-रूप है; आत्मा विभु या सर्वव्यापक नहीं है और कोई अणु रूप मन-बुद्धि उससे अलग नहीं हैं।

संस्कार भी उसी आत्मा ही में रहते हैं। आप ज़रा सोचिये कि यदि संस्कार आत्मा में न रहते होते तो उन्हें 'अनादि' कैसे माना जा सकता? दूसरी बात यह है कि यदि संस्कार स्वयं आत्मा में न रहते तो आत्मा ने सबसे पहले जो शरीर धारण किया, चाहे कभी भी किया, वह किस आधार पर किया? यदि मन और संस्कारों को आत्मा से अलग माना जाय तो आत्मा का सबसे पहला जन्म स्त्री या पुरुष रूप में, मनुष्य या किसी अन्य तन में, किसी धनवान या निर्धन के घर में सतयुग अथवा अन्य किसी युग में क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर वे लोग नहीं दे सकते जो कि मन-बुद्धि को आत्मा से अलग प्रकृतिकृत मानते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि सोचना, विचारना, संकल्प करना, अनुभव करना आदि योग्यतायें अणु-समान अविनाशी आत्मा की ही हैं और संस्कार भी स्वयं आत्मा ही में होते हैं और आत्मा शरीर में भृकुटि में निवास करती है। वह मस्तिष्क और स्नायुओं द्वारा कर्मेन्द्रियों को प्रेर कर कर्म करती तथा उनका फल भोगती है। आत्मा ही ज्ञाता है, इसीलिए यही कर्मों का प्रेरक भी है, जो ज्ञाता न हो वह कर्मों का प्रेरक नहीं हो सकता। अतः प्रकृतिकृत मन कर्मों का प्रेरक नहीं हो सकता।

आजकल के विज्ञापन तथा मनोविज्ञान से भी यही सिद्ध होता है किमस्तिष्क ही ऐसा यन्त्र अथवा उपकरण है जिस द्वारा आत्मा

र ती, विचारती, याद रखती तथा अनुभव करती है।

ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन काल के लोगों को भले ही शरीर की बनावट का काफ़ी ज्ञान था, उन्हें मस्तिष्क (Brain) की बनावट तथा योग्यताओं का पूरा परिचय न था और उन्होंने प्रकृति-कृत मन की जो योग्यताएँ आदि बताई हैं और उसका जो प्रयोग माना है, वे वास्तव में मस्तिष्क पर ही ठीक लागू होते हैं। अतः मस्तिष्क के अतिरिक्त किसी प्रकृतिकृत अणु-रूप मन को मानने की आवश्यकता नहीं।

दूसरी ओर आजकल के बहुत-से मनोवैज्ञानिक ऐसे हैं, जो कि मस्तिष्क ही को मन तथा सब-कुछ मानते हैं, और आत्मा को मस्तिष्क (Brain) से अलग नहीं मानते। वे भी ग़लती करते हैं क्योंकि किसी चेतन आत्मा के सिवाय प्रकृतिकृत मस्तिष्क भी कुछ नहीं कर सकता। मस्तिष्क तो एक साधन अथवा उपकरण (Organ) है, उसका प्रयोग करने वाली तो आत्मा उससे अलग है। अतः वास्तविकता तो यह है कि मस्तिष्क आत्मा के लिए आँखों, कानों इत्यादि इन्द्रियों की तरह बल्कि उनसे भी महत्त्वपूर्ण एक इन्द्रिय अथवा उपकरण है और मन-बुद्धि वास्तव में आत्मा ही की मनन शक्ति, स्मरण शक्ति, अनुभव शक्ति या योग्यता का नाम है और आत्मा मनन, स्मरण, और अनुभव मस्तिष्क द्वारा ही करती है। इनके अतिरिक्त अणु-रूप कोई मन नहीं है।

क्या स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था से प्रकृतिकृत मन का अस्तित्व सिद्ध होता है ?

जो लोग मन और बुद्धि को आत्मा से अलग प्रकृतिकृत मानते हैं, वे अपने विचार की पुष्टि में स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था के भेद का प्रमाण देते हैं। वे कहते हैं कि—"जब मनुष्य स्वप्न की अवस्था में होता है तो वह जाग्रत अवस्था में देखी गई या विचारी

गई चीज़ों के सूक्ष्म रूप देखता है परन्तु जब वह सुषुप्ति की अवस्था में होता है तो वह कुछ भी नहीं देखता। कई बार तो ऐसे आदमी भी देखे गये हैं जिनकी आँखें निद्रा में अर्ध-खुली रह जाती हैं परन्तु फिर भी वे उस अवस्था में अपनी आँखों के सामने पड़ी हुई चीज़ें नहीं देख सकते और यदि कमरे में कोई अगरबत्ती अथवा धूप जल रही हो तो सोया हुआ मनुष्य उसकी सुगन्धि का भी अनुभव नहीं कर सकता। वे कहते हैं कि जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति में आत्मा तो वही होती है, शरीर तथा कर्मेन्द्रियाँ भी वही होती हैं, परन्तु यह अवस्था-भेद इसलिए होता है कि इन दोनों के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी है। वह सूक्ष्म शरीर प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश का बना हुआ है। जब आत्मा स्थूल शरीर और मन से अपना संसर्ग या सम्पर्क बिल्कुल हटा लेती है तो मनुष्य सुषुप्ति की अवस्था में होता है और फिर जब वह स्थूल शरीर से स्वयं को हटा लेती है परन्तु सूक्ष्म शरीर से अथवा मन से अपना सम्बन्ध बनाये रखती है तो वह स्वप्नावस्था का अनुभव करती है और जब वह स्थूल शरीर तथा मन दोनों से सम्बन्ध बनाये रखती है तो जाग्रत अवस्था में होती है। इस अवस्था-भेद से स्पष्ट है कि मन-बुद्धि इत्यादि आत्मा से अलग हैं।" अब हम इस प्रमाण तथा सिद्धान्त पर विचार करके देखेंगे कि क्या यह ठीक है?

आप देखेंगे कि जो लोग मन-बुद्धि इत्यादि को आत्मा से अलग मानते हैं और ऊपर-लिखित प्रमाण देते हैं, उनसे यदि यह पूछा जाय कि जिन प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोशों से सूक्ष्म शरीर बना है, वह कोश एक-दूसरे के अन्दर ऐसे ही हैं जैसे कि प्याज के छिलके एक दूसरे के अन्दर होते हैं या वे एक दूसरे में मिश्रित हैं या इनमें से कोई अधिक सूक्ष्म हैं या यह तीनों मिलकर एक सूक्ष्म शरीर कैसे बनाते हैं, तो वे इसका कोई उत्तर नहीं दे सकते। दूसरी बात यह है कि एक ओर तो कई लोग

कहते हैं कि मन अणु जितना सूक्ष्म है और दूसरी ओर यदि उन लोगों से पूछा जाय कि मनोमय कोश आदि कोशों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर कितना बड़ा है तो उसका भी वे लोग संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते । तीसरे, यदि उनसे पूछा जाए कि मन अथवा सूक्ष्म शरीर के कार्य की मस्तिष्क के कार्य से क्या भिन्नता है तो इसका भी वे कुछ संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। चौथी बात यह है कि यदि स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ सूक्ष्म शरीर के या मनोमय कोश आदि के कारण होती हैं तो प्रश्न उठता है कि डॉक्टर लोग दवाइयों द्वारा ये अवस्थाएँ कैसे ला सकते हैं ? क्या वे दवाइयों द्वारा सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करते हैं ? डॉक्टर लोग तो एक्सरे (X-ray) तथा अन्य साधनों से सिद्ध करके बता सकते हैं कि स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा आदि अवस्थायें मस्तिष्क ही के प्रभावित होने से होती है । अतः इन सभी बातों से सिद्ध होता है कि मन-बुद्धि आत्मा से अलग कोई प्रकृतिकृत सत्ताएँ नहीं हैं ।

तब प्रश्न उठता है कि फिर ये स्वप्न, सुषुप्ति आदि-आदि अवस्थाएँ कैसे होती हैं ? इसका विवेक-युक्त और सही उत्तर यही है कि जब आत्मा स्थूल शरीर और मस्तिष्क से अपना व्यतिरेक (Withdraw) कर लेती है अथवा अपने को हटा लेती है अर्थात् निश्चेष्ट (Thought less) हो जाती है तो वह सुषुप्ति अवस्था में आ जाती है और जब वह स्वयं को स्थूल शरीर से हटा तो लेती है परन्तु निश्चेष्ट नहीं होती और मस्तिष्क के साथ थोड़ा-बहुत सम्पर्क बनाये रखती है तब वह स्वप्न अवस्था में होती है और जब मस्तिष्क को कोई ठोकर लगती अथवा कोई ऐसी हानि पहुँचती है तो मूर्छा अवस्था आ जाती है; उस अवस्था में आत्मा मस्तिष्क से कोई कार्य नहीं ले सकती। डॉक्टर लोग भी किन्हीं दवाइयों द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्धित स्नायुओं को प्रभावित करते हैं । अतः मन और बुद्धि को प्रकृतिकृत, सूक्ष्म शरीर मानना व्यर्थ है मन तो आत्मा ही की मनन, इच्छा, विचार,

कल्पना आदि की योग्यता का या संकल्प ही का नाम है और बुद्धि आत्मा ही की निर्णय या विवेक शक्ति का नाम है।

क्या बुद्धि को अच्छा या खराब मानने से बुद्धि आत्मा से अलग सिद्ध होती है ?

कई लोग कहते हैं कि हम बहुत बार कहते हैं—"आज मेरी बुद्धि ने ठीक निर्णय नहीं किया अथवा अब मेरी बुद्धि अच्छी तरह क़ाम नहीं करती।" इस प्रकार के वाक्यों से सिद्ध होता है कि 'मैं' अर्थात् आत्मा अलग हूँ और बुद्धि अलग है। परन्तु आप देखेंगे कि इन वाक्यों के आधार पर बुद्धि को आत्मा से अलग मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे हम कई बार यह कहते हैं—"आज मेरी बुद्धि ने ठीक कार्य नहीं किया" वैसे तो बहुत मनुष्य कई बार यह भी कहते हैं कि—"आज मेरी आत्मा को दुःख हुआ।" तो क्या 'मेरी आत्मा' कहने से यह सिद्ध होता है कि 'मैं और आत्मा'—ये दो अलग-अलग चीजें हैं? नहीं, यह तो वाक्यों में "मेरी आत्मा" का मतलव है कि 'स्वयं अर्थात् मुझे' दुःख हुआ। ठीक इसी प्रकार, "मेरी बुद्धि ने ठीक निर्णय नहीं किया—" इस वाक्य का अर्थ है कि मेरी विवेक-शक्ति ने या मेरी विचार-शक्ति ने अर्थात् मेरी निर्णय की योग्यता ने ठीक निर्णय नहीं किया। इससे भी बुद्धि का आत्मा से अलग होना सिद्ध नहीं होता।

अच्छा, बताइये, कि "मेरी बुद्धि ने ठीक निर्णय नहीं किया"—यह निर्णय देने वाला कौन है ? आप कहेंगे—'आत्मा'। तो स्पष्ट है कि 'निर्णय' हर हालत में आत्मा ही करती है और वह आत्मा ही निर्णय की योग्यता के बारे में कह रही है कि 'आज ठीक निर्णय नहीं हुआ है।"

यदि बुद्धि आत्मा से अलग कोई प्रकृतिकृत सत्ता होती तो हम परमात्मा से जब कहते हैं कि—'हे प्रभो, हमें दिव्य-बुद्धि दीजिए" तो क्या हम परमात्मा से कोई दिव्य प्रकृतिकृत वस्तु माँगते हैं ? नहीं,

बल्कि, हम तो परमात्मा से वह सत्य ज्ञान माँगते हैं अथवा वह विवेक-शक्ति माँगते हैं जिस द्वारा हम सन्मार्ग पर चल सकें। और यह दिव्य-ज्ञान आत्मा ही का विषय है, यह किसी प्रकृतिकृत बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। परमात्मा को जब हम 'ज्ञान का सागर' कहते हैं तो क्या परमात्मा की कोई प्रकृतिकृत बुद्धि है जिसमें वह ईश्वरीय ज्ञान है ? नहीं, नहीं। ज्ञान को स्वयं आत्मा ही धारणा करती है। अतः बुद्धि भी आत्मा से अलग कोई प्रकृतिकृत सत्ता नहीं है।

इसी प्रकार, जब भक्त लोग परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि— "हे प्रभो हमारे अवगुण चित्त न धरो", तो क्या परमात्मा के किसी प्रकृतिकृत चित्त से उनका अभिप्राय होता है ? कदापि नहीं। चित्त भी आत्मा से अलग कोई प्रकृतिकृत सत्ता नहीं है बल्कि मन, बुद्धि चित्त तथा अहंकार,—ये सभी आत्मा ही की संकल्प, कल्पना, इच्छा, धारणा, ध्यान, विचार, निर्णय, स्मृति, अनुभूति, निज-भान आदि आदि की योग्यताओं के विभिन्न नाम हैं।

हरेक शरीर में जो बिन्दु-रूप, अथवा अणु-समान अनादि और अविनाशी आत्मा है, ये मन-बुद्धि आदि सभी उसी आत्मा ही की चेतनता के सूचक हैं। इन्हें आत्मा से अलग किसी प्रकृतिकृत सत्ता में मानना गोया आत्मा को न मानना है ? वास्तव में तो आत्मा ही में सभी जन्मों के संकल्प तथा संस्कार अदृश्य अथवा अव्यक्त रूप में समाये हुए हैं। यही तो एक आश्चर्यजनक सत्यता है जो कि अब परमपिता परमात्मा शिव ने हमें प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा समझायी है !

—o—

क्या मनुष्यात्मा पुनर्जन्म लेती है ?

आज संसार में इस विषय पर भी बहुत वाद-विवाद है कि आत्मा पुनर्जन्म लेती है या नहीं ! कई मत-वादी कहते हैं कि आत्मा एक बार शरीर धारण करके, कर्म करती है और उसका फल भोगती है और जब उसका देहान्त होता है तो उसके बाद वह पुनः शरीर नहीं लेती। बल्कि, वह कब्र-दाखिल रहती है और जब अन्त में क़यामत अथवा अन्तिम निर्णय का दिन (Day of judgement) आता है तब वह पुनः उठ खड़ी होती है और खुदा उन्हें उनके कर्मों का फल देता है और वापस 'आल्मे अरवाह' (Soul World) में अर्थात् परलोक में ले जाता है। परन्तु वास्तव में यह मान्यता ग़लत है। पुनर्जन्म की मान्यता की सत्यता में कई प्रमाण दिए जा सकते हैं।

किसी का जन्म अमीर घराने में तथा किसी का ग़रीब घराने में क्यों ?

हम देखते हैं कि कोई आत्मा किसी धनवान और सुशील माता-पिता के यहाँ जन्म लेती है और अन्य कोई निर्धन, कंगाल, अशिक्षित, असभ्य और चरित्र-भ्रष्ट घराने में जन्म लेती है, आखिर इसका भी कोई तो कारण होगा ? कारण के बिना तो कोई भी कार्य नहीं होता ? स्पष्ट है कि आत्मा एक जीवन में जो कर्म करती है उसका वह कुछ फल तो उसी जीवन में भोगती है और जो फल भोगना रह जाता है, उसे वह अगले जन्म में भोगती है। उसी फल को भोगने के लिए ही वह अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार दूसरा जन्म लेती है। जो लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते, वे इस बात का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते कि आखिर एक आत्मा और दूसरी आत्मा का भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न कुटुम्ब या देश में तथा स्त्री-तन या पुरुष-तन में अथवा नीरोग तन या रोगी तन में जो जन्म होता है उसका कारण क्या है ?

२-शिशु अवस्था में हँसने-रोने आदि से पुनर्जन्म सिद्ध

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि जन्म लेते ही शिशु कभी रोता है और फिर थोड़ी देर में हँसता है। उसके सामने कोई व्यक्ति या चीज़ न भी हो तो भी वह कभी मुस्कराता और कभी उदास हो जाता है। प्रश्न उठता है जबकि अभी शिशु ने अपने सम्बन्धियों का परिचय ही नहीं पाया और इस कुटुम्ब की हानि-लाभ आदि की परिस्थितियों का उसे कुछ पता ही नहीं है तो उसके हँसने-रोने की दशा का क्या कारण है ? इस प्रश्न का इसके सिवा और कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता कि वह अपने पूर्व-जन्मों के संस्मरणों के कारण कभी प्रसन्न होता और कभी रोता है परन्तु अभी इन्द्रियों के कोमल होने के कारण अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकता।

३- पूर्व संस्कारों के कारण ही किसी विद्या अथवा विषय में विशेष योग्यता

हम यह भी देखते है कि कई व्यक्ति छोटी आयु में ही संस्कृत, गायन, नृत्यकला या अन्य किसी विषय में असाधारण प्रतिभा अथवा योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। कई बच्चे शीघ्र ही उस विद्या को सीख लेते, अनेक शास्त्र, ग्रन्थ आदि कण्ठस्त कर लेते हैं अथवा वैराग्यादि के कारण घर छोड़ जाते हैं। इसकी व्याख्या सिवा इसके और क्यों हो सकती है कि उन्हें पूर्व-जन्म से ही उस-उस विद्या, कला या संस्कार का अभ्यास होता है और इस जन्म में भी उसके अनुकूल वातावरण मिलने पर वे उस विद्या में प्रवीण हो जाते हैं अथवा पूर्व संस्कार के अनुसार सहज तथा शीघ्र ही कुछ कर लेते हैं।

४- एक ही माता-पिता के दो बच्चों में भी भेद

यह सभी के अनुभव की बात है कि एक ही माता-पिता के दो बच्चों में भी बहुत बातों में असमानता होती है हालाँकि उनके माता-पिता वही हैं। उन्हें खाने-पीने को भी एक-जैसा ही मिलता है परन्तु

एक का स्वभाव, संस्कार और भाग्य दूसरे से नहीं मिलता। इसका कारण भी पूर्व-जन्म के संस्कार तथा कर्म-फल ही है। अतः इससे भी पुनर्जन्म की मान्यता की सिद्धि होती है।

५- माता के स्तनों से दुग्ध-पानादि से सिद्ध

एक नव-जात शिशु को माता के स्तनों से दूध पीने की कोई शिक्षा या ट्रेनिंग नहीं दी जाती बल्कि, यह सहज स्वभाव ही से उसे करने लगता है। इससे स्पष्ट है कि बच्चे को इस क्रिया का पूर्व-ज्ञान अथवा पूर्व-अभ्यास है। अतः इससे भी पूर्वजन्म का होना सिद्ध होता है।

६- यदि आत्मा पुनर्जन्म लेती है तो उसे पूर्व जन्म की बातें याद क्यों नहीं रहतीं ?

कई लोग यह आपत्ति करते हैं कि यदि आत्मा एक शरीर छोड़ने के बाद दूसरा शरीर धारण करती है तो उसे पूर्वजन्म की बातें याद क्यों नहीं रहतीं ?

अब इस विषय में देखने की बात यह है कि अल्पज्ञ आत्मा में जैसे स्मृति का गुण है, वैसे ही विस्मृति का गुण भी है। वह इसी एक जीवन में भी कई पिछली बातें भूल जाती है तो पिछले जन्म की तो बात ही क्या ? कई बार तो मनुष्य दो-चार दिन पहले की बातें भी भूल जाता है। निद्रा के बाद, मूर्छा के बाद, दिमागी चोट के बाद या स्थान, सम्बन्ध और परिस्थतियाँ बदलने के बाद भी मनुष्य कई बातें भूल जाता है इस प्रकार, मृत्यु भी एक ऐसी घटना है जिसके कारण मनुष्य पिछली बहुत-सी बातें भूल जाता है। फिर जो कुछ उसे याद भी रहती हैं, उन्हें वह अपनी शैशव अवस्था में बताने में असमर्थ होता है और उसके बड़े होने तथा बातचीत करने के योग्य होने तक वे भी बहुत-कुछ भूल जाती हैं और हम देखते हैं कि कुछ बच्चों को पूर्व-जन्म की बातें याद रहती भी हैं। समाचार पत्रों में कई बार ऐसे समाचार प्रकाशित

हुए हैं जिन से यह प्रमाणित होता है कि कई बच्चों को पूर्वजन्म की बातें याद रहती हैं। इससे पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

वास्तव में देखा जाय तो पूर्वजन्मों की बात को भूल जाना तो कई कारणों से आवश्यक भी है। एक तो वर्त्तमान जन्म में अपने कर्मों के फल के रूप में सुख-दु:ख भोगने के लिए भी पूर्वजन्म के वृत्तान्तों और सम्बन्धों को भूलना ज़रूरी है। दूसरा, यदि हरेक मनुष्य को अपने पूर्व-जन्म की स्मृति हो तो संसार में गड़बड़ हो जायेगी। कोई मनुष्य बाज़ार में जाते हुए यह पहचानकर कि अमुक व्यक्ति ने पूर्व-जन्म में उसे मारा था, वहीं लड़ना-झगड़ना शुरू कर देगा। कोई बच्चा यह देखकर कि अमुक महिला पूर्वजन्म में उसकी माता थी, उसे पकड़कर उससे मोह-ममता की बातें करने लगेगा और शायद उसे अपने घर ले जाने के लिए ही हठ करने लगेगा। अतः अपने पूर्वजन्मों के सारे हालात याद न होने से यह नहीं मान लेना चाहिए कि पुनर्जन्म होता ही नहीं।

बल्कि, किसी व्यक्ति में काम के, किसी में क्रोध के संस्कारों के होने से तथा किसी को एक से लाभ, किसी को उसी से हानि इत्यादि-इत्यादि के होने से स्पष्ट होता है कि हम पिछले भी कुछ संस्कारों तथा कर्मों का हिसाब लेकर आए हैं, वर्ना यह संसार ऐसा न होता जैसा हम देख रहे हैं।

७- कर्मों का फल अगले जन्म में न मानने से संसार में चरित्रहीनता

हम देखते हैं कि कोई मनुष्य अच्छे कर्म करता है, कोई बुरे। हम यह भी देखते हैं कि हरेक मनुष्य को अपने सभी कर्मों का फल उसी जन्म में तो मिल नहीं पाता। अतः यदि पुनर्जन्म न होता हो और मनुष्य को अगले जन्म में अपने कर्मों का फल न भोगना पड़ता हो तब तो हरेक व्यक्ति अपने कर्मों के बारे में असावधान होकर छल, कपट, क्रोध, और द्वेष आदि किसी भी तरीके से अपना वर्त्तमान प्रयोजन सिद्ध करने की कोशिश करेगा और दूसरे का ध्यान नहीं करेगा। इस से तो समाज और देश में अनैतिकता और अनाचार ही

बढ़ेगा। "पुनर्जन्म होता है और मनुष्य को अपने कर्मों का फल अब या अगले जन्म में भोगना पड़ता है"—इसी निश्चय से ही तो मनुष्य दान-पुण्य करता, दूसरे का भला करता और बुरे कर्मों से बचने की कोशिश करता है। अतः नैतिकता के दृष्टिकोण से भी पुनर्जन्म सिद्ध है।

८- मौत के डर और मुक्ति की इच्छा से पुनर्जन्म सिद्ध

मनुष्य को मौत से जो डर रहता है, इससे भी सिद्ध है कि पहले भी उसने मृत्यु का अनुभव किया है अर्थात् पहले भी उसने जन्म-मरण भोगा है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य को मुक्ति की जो इच्छा है उससे भी सिद्ध है कि उसमें यह सूक्ष्म स्मृति है कि पुनर्जन्म होता है और अब वह उससे कटु अनुभव से छुटकारा पाना चाहता है। अतः मृत्यु से डर और मुक्ति की इच्छा से भी पुनर्जन्म का संकेत मिलता है।

९- कयामत तक कब्र-दाखिल होने का अर्थ

वास्तव में यह जो कहा गया है कि कयामत अथवा "अन्तिम निर्णय का दिन आने पर खुदा स्वयं हरेक आत्मा को उसके कर्मों का फल देते हैं", इसका भी एक गहन अर्थ है जिसे आजकल उन-उन धर्मों के लोग भी नहीं जानते। अब स्वयं परमपिता परमात्मा ने मनुष्य-आत्माओं के अनेक जन्मों की जो कहानी हमें सुनाई है, उसके आधार पर हम जानते हैं कि परमपिता परमात्मा के सिवा सभी आत्माएँ पुनर्जन्म लेने वाली अथवा जन्म-मरण के चक्कर में आने वाली हैं। सभी आत्माएँ लौकिक रीति से अर्थात् माता के गर्भ से जन्म लेती हैं केवल परमपिता परमात्मा ही सारे कल्प में एक बार धर्म-ग्लानि के समय दिव्य जन्म लेते हैं अर्थात् परकाया प्रवेश करते हैं। मनुष्यात्माएँ एक बार जन्म लेने के बाद अपने कर्मों के हिसाब-किताब के कारण जन्म-मरण में आती ही रहती है। कल्प के अन्त तक सभी

आत्माएँ स्वरूप-विस्मृत और पतित हो जाती हैं—"यही उनका कब्र दाखिल होना है।" ऐसी स्थिति हो जाने पर परमपिता परमात्मा शिव अवतरित होते हैं और मनुष्यात्माओं को ईश्वरीय ज्ञान तथा सहज राज योग सिखाकर पुनः पावन करते हैं और जो पावन नहीं होते उन्हें वे उनके कर्मों का दण्ड देते हैं और सभी को परमधाम ले जाते हैं। आप स्वयं सोचिए कि मनुष्यात्माएँ पुनर्जन्म न लेतीं तो जन-संख्या दिनोंदिन बढ़ती न जाती। जनसंख्या बढ़ने का कारण ही यह है कि जिन आत्माओं ने पहले जन्म लिया, वे तो पुनर्जन्म लेती ही आती हैं और उनके अतिरिक्त मुक्तिधाम से अन्यान्य आत्माएँ भी आ-आकर जन्म ले रही हैं। यदि मनुष्यात्माएँ पुनर्जन्म न लेती होतीं तो जन-संख्या में वृद्धि न हो सकती।

सतयुग से लेकर कलियुग के अन्त तक के सृष्टि-चक्र के आदि, मध्य और अन्त का जो इतिहास अब परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा के कमल-मुख द्वारा समझाया है, उसे समझने से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यात्माओं में अपने जन्म-जन्मान्तर के पार्ट बजाने के संस्कार अनादि काल से तिरोभावित (merged) हैं और आत्माएँ जन्म-पुनर्जन्म लेती ही रहती हैं जब तक कि सृष्टि का महा-विनाश न हो और परमपिता परमात्मा शिव मुक्ति न दें।

क्या मनुष्यात्मा पशु-योनि में जन्म लेती है ?

आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले लोगों में से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि मनुष्य-योनि की आत्मा शरीर छोड़ने के बाद पशु या पक्षी आदि योनियों में भी जा सकती है। अपने इस मत को सिद्ध करने के लिए वे अनेक युक्तियाँ और दृष्टान्त भी देते हैं परन्तु यदि उन पर विचार किया जाय तो वह विवेक-संगत नहीं हैं।

१. मनुष्यात्मा पशु-योनि में बन्दी नहीं बनती बल्कि मनुष्य-योनि में ही बन्धनों में है

उदाहरण के तौर पर जो लोग मनुष्यात्माओं का पुनर्जन्म पशु-योनि में मानते हैं वे कहते हैं कि—"हम संसार में देखते हैं कि यदि कोई व्यक्ति चोरी करता, डाका डालता, खून करता या अन्य कोई बुरा कर्म करता है तो सरकार उसकी स्वतन्त्रता छीन लेती है। वह उसे जेल में बन्द कर देती है और उस आदमी को हथकड़ियाँ या बेड़ियाँ डाल देती है। वह उसे एक छोटी कोठरी में भी बन्द कर देती है जहाँ उसे सुख-सुविधायें भी प्राप्त नहीं होतीं और वह अपनी इच्छा से कहीं घूम-फिर भी नहीं सकता। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति सरकार के बनाये नियमों को नहीं तोड़ता और कोई उच्च कार्य करता है तो सरकार उस कार्य की उच्चता और उसके व्यवहार तथा चरित्र के अनुसार उसे कोई क्वार्टर, बंगला या कोठी आदि देती है और उसके लिये मोटर कार आदि सुविधाएँ तथा अधिक धन के रूप में सुख आदि भी देती है।" वे कहते हैं कि—"ठीक इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति बुरे कर्म करता है तो परमपिता परमात्मा, जो कि संसार की सर्वोच्च सरकार है, उसे किसी ऐसी योनि में डाल देते हैं जहाँ पर उसे सुख-सुविधा न हो और वह परतन्त्रता का अनुभव करे और उसकी बुद्धि कम हो। योनियों में भी एक इन्द्रिय वाली, दो इन्द्रियों वाली, तीन इन्द्रियों वाली इत्यादि योनियाँ हैं। कर्मों के दण्ड के अनुसार मनुष्य को योनि मिलती है। जो चोरी करता या डाका

डालता है, वह चौपाये जानवरों की योनि में या अन्य ऐसी योनि में जाता है जिसमें हाथ न हों, जो आँख द्वारा बुरा कर्म करता है वह ऐसी योनि में जाता है जिसमें आँख न हों। उदाहरण के तौर पर बैल को बोलने की इन्द्रिय प्राप्त नहीं है और गधे को अल्प-बुद्धि प्राप्त है।"

अब यों तो ऊपर दी गई दलील ठीक मालूम होती है, परन्तु विचार करने पर आप इसी निर्णय पर पहुँचेगे कि वास्तव में यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे बैल को वाच्येन्द्रिय (organ of speech) प्राप्त नहीं होती वैसे ही कई मनुष्य भी गूंगे, हकलाने वाले (stammering) या तन्दु वाले (tongue-tied) होते हैं। जैसे गधे को अल्प बुद्धि प्राप्त है, वैसे ही अल्प बुद्धि वाले तो बहुत मनुष्य हैं। बल्कि कई मनुष्य तो पागल (mad) अर्ध-पागल (half-mad) मन्द बुद्धि (dull,) जड़मति (block-headed) पत्थर-बुद्धि (dunce) सिर-फिरे (cracks), मतवाले (drunken) या असावधान चित वाले (absent-minded) हैं। इसी प्रकार नेत्रहीन (blind), अंगहीन (maimed), पंगु, लंगड़े (crippled) हैं, नपुंसक (eunuch,) अपाहिज (disable bodied) इत्यादि, अर्थात् कर्म इन्द्रियों वाले या विकृत अथवा टूटी-फूटी इन्द्रियों वाले मनुष्य भी होते हैं। फिर हम यह भी देखते हैं कि बहुत इन्द्रियाँ होने पर आज मनुष्य प्रायः बहुत ही इन्द्रियलोलुप (sensualist), विषयासक्त (voluptuous) 'विकारी और विकर्मोन्मुख' है। मनुष्य तो आज इतना विकारी हो गया है कि काम विकार को तो वह अपना एक अधिकार (conjugal right) मानता है, क्रोध उसके कंठ पर सदा सवार है और काम उसकी दृष्टि-वृत्ति में सदा बैठा ही है। अतः बहुत इन्द्रियों तथा कर्म-इन्द्रियों के आधार पर भी मनुष्य-आत्मा का पशु-योनि में गमनागमन नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्द्रियों द्वारा कुकर्म करने वाले मनुष्य को अगले जन्म में हीनांगता की स्थिति में भी हम मनुष्य देह में देखते हैं अर्थात् किन्हीं इन्द्रियों से वञ्चित मनुष्य-शरीर में हम पाते हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य-योनि

में भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जिनके हाथ नहीं हैं, (कट गये हैं), जिनकी आँख नहीं हैं (अंधी हो गई हैं), कान नहीं हैं (बहरे हो गये हैं), या जो गूंगे हैं या जिन्हें अर्द्धांग है या जिनके सारे शरीर पर कोढ़ है। अतः जबकि मनुष्य-योनि में हम मनुष्यों को कई इन्द्रियों से वञ्चित देखते हैं तो यह मान्यता कि मनुष्यात्मा अपने हाथों, पाँवों, आँखों आदि द्वारा पाप करने के फलस्वरूप ऐसी योनि में पुनर्जन्म लेती है जिसमें कि उसे वह इन्द्रिय प्राप्त न हो जिस द्वारा उसने पाप किया, निरर्थक ही है। इसके अतिरिक्त, जहाँ तक बन्दी या कैदी बनने का सवाल है, बहुत-से मनुष्य ऐसे भी हैं जो जेल से बाहर होते हुए भी अधिक असुविधा में हैं। न उनके पास रहने के लिए कोई कोठरी है, न खाने के लिए अनाज। तो मनुष्य भी अपने कर्मों की जंजीरों में इसी योनि में ही बुरी तरह बंधा हुआ है और उसकी इच्छा और सुविधा के विपरीत बहुत कुछ होता है। उसकी अवस्था कोई जीवन्मुक्ति की अवस्था नहीं है, बल्कि जीवन्बद्ध अवस्था है और मनुष्य को पेट-भर रोटी के लिए पशुओं की तरह दासता में रहना पड़ता है। दिन-भर कोल्हू के बैल की तरह अपने काम पर जुटना पड़ता है। एक गधे की तरह सामान अपनी पीठ पर लादना पड़ता है। अतः जेल और कैदियों के दृष्टान्त को सामने रख कर मनुष्यात्मा का पशु-योनि में पुनर्जन्म मानना ग़लत है।

२. मनुष्यात्मा अपनी दूषित प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने के लिए पशु-योनियों में नहीं जाती; उसे ज्ञान-योग का आधार लेना पड़ता है

आत्मा के योनि-परिवर्त्तन में विश्वास रखने वाले लोग कहते हैं कि—"सरकार किसी अपराधी को जेल में केवल परतन्त्र रखने के लिए भेजती है बल्कि मनुष्य को जेल की कोठरी में इसलिए भी बन्द रखा जाता है कि वहाँ उसे चोरी करने, डाका डालने, हिंसा या लड़ाई-झगड़ा करने आदि का अवसर नहीं मिलेगा और इस प्रकार

होते-होते उसकी निकृष्ट प्रवृत्तियाँ लुप्त हो जायेंगी और उसकी प्रवृत्ति अच्छी हो जायेगी।" वे कहते हैं कि---"इसी प्रकार पाप करने वाली मनुष्यात्माओं को भी पशु आदि योनियों में इसलिए डाला जाता है कि उनकी पाप-वृत्तियाँ मिट जायें और उनमें शुभ प्रवृत्तियों का आवा-गमन या अविर्भाव हो।"

परन्तु विचार करने पर आप देखेंगे कि यह कथन भी विवेक-संगत नहीं है। सभी जानते हैं कि जेल में रहने के बाद शायद ही कोई आदमी सुधरता होगा। और, दूसरी बात यह है कि पशु आदि योनियों में तो कोई ऐसी योनि ही नहीं कि जिनमें पाप बिल्कुल न होता हो।

पशुओं में तो हिंसा, द्वेप, क्रोध, काम और लोभ, आदि सभी विकार और निकृष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतः यह कहना ग़लत है कि पशु-योनियों में जाने के परिणामस्वरूप मनुष्यात्माओं को अपनी दूषित प्रवृत्तियों का प्रयोग करने का अवसर न मिलेगा, क्योंकि पशुओं में तो दूषित प्रवृत्तियाँ होती हैं, जैसे कि शेर में हिंसा होती है, बगले में ढोंग होता है, बिल्ली-कुत्ते में परस्पर द्वेष भी होता है।

एक मिनट के लिए मान भी लिया जाय कि पापी मनुष्यात्मा जब पशु-योनियों में जाती है तो उसकी दूषित प्रवृत्तियाँ उससे छूट जाती हैं तो पशु-योनि भोगने के बाद पुनः जब वह आत्मा मनुष्य-योनि में आती है, उसमें कोई दोष, कोई निकृष्ट प्रवृत्ति या कोई विचार नहीं होना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य योनि में बाल्यकाल में भी क्रोध, लोभ, मोह, तथा निकृष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं और मनुष्यों में शेर से भी अधिक हिंसक मनुष्य हैं और बगले से भी अधिक मक्कार लोग हैं और सभी मनुष्यों में थोड़ी-बहुत दूषित प्रवृत्तियाँ तो हैं ही।

हमें ऐसे भी मनुष्य मिलते हैं जिनमें वास्तविक अर्थ में मनुष्यों के कोई लक्षण ही नहीं मिलते और जिनकी प्रवृत्तियाँ किसी दृष्टिकोण से पशुओं से

भी गिरी हुई हैं। तब भला यह मानना ग़लत ही तो है कि निकृष्ट प्रवृत्तियों से छुटकारा दिलाने के लिये ईश्वर की ओर से यह व्यवस्था है कि मनुष्यात्मा पशु-योनि में पुनर्जन्म ले। यदि ऐसा होता तब तो मनुष्य-जीवन में ज्ञान, योग आदि सभी साधन निरर्थक सिद्ध होंगे क्योंकि वास्तव में तो मनुष्य की वृत्ति और प्रवृत्ति को सुधारने के लिए ईश्वरीय ज्ञान और योग ही की व्यवस्था है न कि पशु-जन्म में पुनर्जन्म लेकर सुधारने की। पशु-योनि में आने से तो आत्माओं द्वारा पाशविकता ही का अभ्यास होगा और उस योनि में निकृष्ट कर्म तथा विकार भी तो हैं ही।

३-दुःख भोगने के लिए भी मनुष्यात्मा पशु-योनि में ही नहीं जाती बल्कि मनुष्य-योनि में ही भोगती है

योनि-परिवर्त्तन के सिद्धान्त को मानने वाले लोग कहते हैं कि "अपने बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्यात्मा को दुःख के रूप में दण्ड मिलता है।" इस कथन पर सोचने के बाद भी आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह युक्ति भी ठीक नहीं है क्योंकि हम देखते हैं कि दुःख तो मनुष्य-योनि में भी है और कि मनुष्य-योनि में ही मनुष्य को पाप कर्मों का फल मिलता है। उदाहरण के तौर पर कोई व्यक्ति यदि किसी को छुरा मारता है तो सरकार उसे जेल में दण्ड देती है। कोई मनुष्य क्रोध करता है तो उसका प्रभाव इसी जीवन में भी उसके मस्तिष्क, हृदय और रक्त पर और शरीर के विकास पर पड़ता है। कोई व्यक्ति बेईमानी से पैसा कमाता है तो उसके घर में रोग, शोक और रिश्वत आदि पर वह पैसा भी खर्च होता है, वह स्वयं अशान्त भी रहता है और एक दिन पकड़ा भी जाता है, या जब लोगों को ज्ञात हो जाता है कि वह व्यक्ति बेईमान है तब उसका मान, धन्धा आदि मन्द पड़ जाता है। अतः जबकि मनुष्य-योनि में ही बुरे कर्मों का फल मिलते हुए हम देखते हैं तो यह क्यों माना जाय कि बुरे कर्मों का फल भोगने के लिए मनुष्यात्मा पशु आदि योनियों में जाती है?

इसके अतिरिक्त, आज हम देखते हैं कि मनुष्यों को तो इतनी

प्रकार की अशान्ति और इतने प्रकार के दुःख हैं कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियों में तो वे हो भी नहीं सकते। उदाहरण के तौर पर सरकार के बढ़ते हुए टैक्सों, चीज़ों की बढ़ती हुई मंहगाई आदि की चिन्ता मनुष्य ही को होती है। रस्म-रिवाज तथा लोक-लाज आदि के कारण भी मनुष्य ही दुःखी होता है। मनुष्य ही को घर, कपड़े-लत्ते, भोजन, बर्तन, खाने के लिए व्यंजन, शादी के लिए खर्च, शिक्षा के लिए धन, मान के लिए पद आदि की आवश्यकता है और ये न होने पर उसे दुःख तथा अशान्ति होती है।

पशुओं के न कोई ऐसे खर्चीले रीति-रिवाज हैं, न उन्हें मान-अपमान, वेष-भूषा या मकान-दुकान या बच्चों के वर-विवाह की कोई चिन्ता है। न उन्हें बिजली की आवश्यकता है, न चारपाई या चादर की। न उन्हें टोपी-जूता चाहिए, न मोटर-गाड़ी। पशुओं में न कोई मुकदमा-बाज़ी होती है न इलैक्शन का चक्कर है, न उन्हें परीक्षा की चिन्ता है और न पुलिस द्वारा चालान से डर। अतः मनुष्य ही अनेक प्रकार की व्यथाओं, वेदनाओं, चिन्ताओं, चेष्टाओं आवश्यकताओं, कामनाओं, विकल्पों, विचारों, वासनाओं और निराशाओं के कारण अशान्त रहता है। तो जबकि मनुष्य-योनि में पाप-कर्मों का फल मिलते हुए हम देख रहे हैं और यह भी देख रहे हैं कि मनुष्य-योनि में पशु आदि योनियों से भी अधिक मात्रा में और अनेकानेक प्रकार की अशान्ति है, तब भला क्यों माना जाय कि मनुष्यात्मा अपने आप पाप-कर्मों की दुःख रूप प्रालब्ध भोगने के लिए पशु आदि योनियों में जाती है ?

यदि मनुष्य को बुरे कर्मों का फल पशु-पक्षी आदि योनियों में ही मिलने की व्यवस्था होती तब तो मनुष्य-योनि में कभी भी कोई दुःखी दिखाई न देता परन्तु हम देखते हैं कि बहुत-से मनुष्य पशुओं से भी अधिक दुःखी होते हैं। कई कुत्ते कारों में घूमते हैं, वे डबल रोटी खाते हैं और गरम गदेलों पर लेटते हैं परन्तु करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें पेट-भर रूखा-सूखा खाना भी नहीं मिलता और सर्दी-गरमी से अपने शरीर को सुरक्षित रखने के लिए वस्त्र या मकान भी नहीं मिलता।

हम यह स्पष्ट देखते हैं कि पशु-योनि में केवल दुःख ही नहीं है बल्कि सुख भी है। उदाहरण के तौर पर दौड़ के घोड़े (Race Horse) को देखिए। वह हज़ारों-लाखों रुपयों का होता है, उसकी मालिश और सेवा-सफाई के लिए विशेष मनुष्यों को वेतन पर रखा जाता है, उसके स्वास्थ्य और कुशलता के लिए डाक्टरों पर धन खर्च किया जाता है उसे दौड़ाने का अभ्यास कराने के लिए भी विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है; अतः यही क्यों माना जाय कि पशु-योनियाँ दण्ड भोगने के लिए अथवा दुःख की प्रारब्ध भोगने के लिए हैं ? क्या हम यह नहीं देखते कि बहुत-से पशु-पक्षी स्वतन्त्र हैं और अल्प काम हैं। पक्षी आकाश में स्वतन्त्र विचरते हैं और बगीचों या जंगलों में जाकर मन-पसन्द फल खा लेते हैं परन्तु मनुष्य रोटी-कपड़ा कमाने के लिए इतना कठिन परिश्रम करने पर भी चिन्तित रहता है। पशु-पक्षी मनुष्य से प्रायः अधिक स्वस्थ रहते हैं और बहुत से पशुओं में काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि भी इतना नहीं होता जितना कि आज मनुष्य में है। अतः यह मानना ग़लत है कि अधिक वासनाओं, विकारों या दुःख की प्रारब्ध के कारण मनुष्यात्मा पश्वादि योनियों में जाती है।

इसके अतिरिक्त, मनुष्य चूंकि पशु से अधिक विचारशील अथवा बुद्धिमान है, इसलिए उसे दुःख का भान पशु से अधिक होता है।

गधे को यदि डण्डे लगा दिए जाएँ तो इतना कष्ट नहीं होता जितना कि एक सभ्य और मान्य-व्यक्ति भरी सभा में अपने प्रति अपमान-सूचक दो शब्द सुनकर दुःखी हो उठता है। अतः यह मानना कि अपने विकर्मों का फल दुःख के रूप में भोगने के लिए मनुष्यात्मा को निकृष्ट योनियों में जन्म लेना पड़ता है, बिल्कुल ग़लत है।

४-पशु-योनि मनुष्यात्मा की भोग-योनि नहीं है

कई लोग योनि-परिवर्तन के लिए एक अन्य प्रकार से तर्क करते

हैं। वे कहते हैं कि "कैदी और स्वतन्त्र मनुष्य की जाति तो एक ही होती है और अन्तर केवल इतना होता है कि कैदी कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं होता वल्कि उसे कर्म भोगने ही पड़ते हैं।"—वे कहते हैं—"कि मनुष्य-योनि और पशु योनि की आत्माओं की भी जाति तो एक है परन्तु पशु-योनि भोग्य है क्योंकि पशुओं में बुद्धि बहुत कम होती है और जो है उसका विकास नहीं हो सकता। वे सोच-विचार कर नहीं सकते इसलिए पशु अपने कर्त्तव्यों के लिए उत्तरदायी अर्थात् जिम्मेदार नहीं होते, अर्थात् पशु-योनि कर्म-योनि नहीं है वल्कि केवल भोग-योनि ही है क्योंकि वे केवल भोगते ही हैं। परन्तु पशु-योनि कर्म-योनि भी है और भोग्य-योनि भी। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह सोच-विचार कर सकता है **क्योंकि उसे बुद्धि प्राप्त है।** इसलिए उनके अच्छे और बुरे कर्मों का उत्तरदायित्व या जिम्मेदारी उसी पर है। यदि वह बुरे कर्म करता है तो उसे पशु आदि योनियों से अपने बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

अव विवेक का प्रयोग करने पर आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि यह दलील भी ठीक नहीं है। पशुओं में कम बुद्धि देखकर उन्हें मनुष्य-आत्माओं के लिए भोग-योनि मानना ग़लत ही तो है क्योंकि यों तो हम देखते हैं कि मनुष्य के एक नव-जात शिशु में अथवा एक किशोर में भी मस्तिष्क का विकास नहीं हुआ होता और इसलिए कहना पड़ेगा कि उसे भी कर्म का उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इसके अतिरिक्त, आज भी अफ्रीका के जंगलों में तथा अन्य महाद्वीपों के भी कई देशों में लाखों-करोड़ों लोग ऐसे भी हैं जिनकी बुद्धि पशुओं ही के बराबर है, फिर पागल मनुष्यों का तो कहना ही क्या ? उन्हें तो न्यायालय भी अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराते। तो जब कि मनुष्य-योनि में पशुओं-जैसी बुद्धि वाले तथा गलित, शिथिल एवं कम इन्द्रियों वाले लोग हैं तब फिर पशु-योनि को मनुष्यात्माओं के लिए भोग-योनि मानने का क्या कारण रहा ?

पुनश्च, अधिक बारीकी से विचार करने पर आप मानेंगे कि यह कहना ग़लत है कि पशु-योनि कर्म-योनि नहीं है क्योंकि हम देखते हैं कि पशु भी बुद्धि का प्रयोग करते हैं और कर्म भी करते हैं तथा उनको सिखाने से वे काफ़ी लाभकारी सिद्ध होते हैं। यदि वे कर्म न करते होते तो एक ही जाति के पशुओं में से कोई अधिक सुखी और कोई कम सुखी तथा कोई अधिक दुःखी, कोई कम दुःखी क्यों होता ? तो स्पष्ट है कि पशु आदि योनियों में जो आत्माएँ हैं वे भी कर्म करती हैं और उन्हीं योनियों में उसका फल भी भोगती हैं। परन्तु मनुष्य-आत्माओं का पशु-योनि में गमन नहीं होता।

हाँ, पशु-योनि **मनुष्यात्माओं के लिए भोग्य-योनि** इस दृष्टिकोण से है कि जो मनुष्यात्माएँ अच्छे कर्म करती हैं, उन्हें पशुओं से भी सुख मिलता है और जो बुरे कर्म करती है, उन्हें पशुओं या कीट-पतंग आदि द्वारा भी दुःख मिलता है।

५ संस्कारों के आधार पर भी योनि-परिवर्त्तन मानना ग़लत है

अब यह बात तो सभी मानते हैं कि बुरे भावों और कर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्य के संस्कार भी बुरे बनते हैं। यह भी सभी लोग मानते हैं कि जब मनुष्यात्मा शरीर छोड़ती है तो वह अपने संस्कार साथ ले जाती है। परन्तु योनि-परिवर्त्तन को मानने वाले लोग कहते हैं कि—"अपने बुरे संस्कारों के कारण मनुष्यात्मा पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियों में जन्म लेती है। शरीरान्त के समय उस की **जैसी वृत्ति होती है उसके अनुसार ही वह योनि लेती है।** यदि किसी में काम-वासना प्रधान है तो वह किसी ऐसी योनि में जाती है जिसमें काम-वासना का भोग अधिक हो।" परन्तु क्या उनका यह मत ठीक है ? क्या हम यह नहीं देखते कि मनुष्य-योनि में तो काम आदि वासनाएँ भोगने के लिए मनुष्य को अधिक अवसर एवं सुविधाएँ हैं ?

निस्सन्देह मनुष्य-योनि में भी वासनाओं के भोग के अवसर और सुवि-

धाएँ अधिक हैं और वह अनेक तरीकों से इन्हें भोगता है। तो हम यह क्यों न मानें कि अपने बुरे संस्कारों के परिणामस्वरूप मनुष्यात्मा अपना अगला जन्म मनुष्य-योनि में ही ऐसे कुटुम्ब में लेती है जिनमें भी वह संस्कार और वासनाएँ हैं अथवा जहाँ उसी तरह का वातावरण है ? यदि मनुष्य-योनि में यह संस्कार न होते तब तो यह मान लिया जाता कि अपने बुरे संस्कारों के कारण मनुष्यात्मा पशु-योनि में पुनर्जन्म लेती है परन्तु हम देखते हैं कि एक तो मनुष्य-जाति में भी इन वासनाओं का खूब ज़ोर है और दूसरी बात यह है कि मनुष्य के बुरे संस्कारों के साथ उसमें "मनुष्य-पन" का बीज तो रहता ही है और उसका एक मौलिक संस्कार यह भी है कि वह मनुष्य-योनि में ही विषय-विकार भोगना चाहता है। मनुष्य में काम वृत्ति, लोभ वृत्ति आदि मनुष्य इत्यादि ही से सम्बन्धित है न कि पशुओं से और उसके कर्मों का बन्धन अथवा हिसाब-किताब भी मनुष्यों ही से है जिसे चुकाने के लिए अथवा जिसे भोगने के लिए उसे विशेष नर-नारी के पास, न कि किन्हीं पशुओं के पास पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

क्या देहान्त के बाद बुरे संस्कारों के कारण मनुष्यात्मा दूसरी योनियों में नहीं जाती ?

पशु-आदि योनियों में मनुष्यात्मा का पुनर्जन्म मानने वाले लोग कहते हैं कि योनियों की कुल संख्या ८४ लाख न सही और मनुष्य-योनियों की संख्या भी ४ लाख न सही परन्तु मनुष्यात्मा देहान्त के बाद अपने संस्कारों और वासनाओं आदि के आधार पर मनुष्य-योनि छोड़कर दूसरी योनि में जाती अवश्य है। वे कहते हैं कि जैसे किसी खेत में चने का बीज बोये जाने पर वह बीज खेत और वायुमण्डल से अपने ही स्वभाव के अनुसार परमाणु, लेकर चने के पौधों के रूप में प्रकट होता है और उसी खेत में गन्ने का बीज बोये जाने पर वह अपने ही मीठे परमाणु इकट्ठे करके गन्ने के रूप में बढ़ता है, वैसे ही

इस संसार रूपी क्षेत्र में भी हरेक आत्मा अपने-अपने कार्यों, संस्कारों, तथा वासनाओं के अनुरूप ही देह और योनि लेती है।

उपर्युक्त मान्यता और उदाहरण पर विचार करने पर आप मानेंगे कि इससे तो वल्कि यह सिद्ध होता है कि मनुष्यात्मा देहान्त के बाद किसी दूसरी योनि में पुनर्जन्म नहीं लेती, अपितु वह तो उसी मनुष्य योनि में ही पुनर्जन्म लेती है। जबकि चने का बीच चने के रूप में और गन्ने का बीज गन्ने ही के रूप में प्रकट होता है तो क्यों न माना जाय कि मनुष्यात्मा रूपी बीज पुनः मनुष्य ही के रूप में व्यक्त होता है, वह भी मनुष्य-योनि के अनुसार ही प्रकृति के परमाणु ले करके मानव देह निर्मित करता है ? जबकि चना बदलकर गन्ना नहीं बन जाता तब यह क्यों माना जाय कि मनुष्यात्मा कबूतर या काले साँप आदि का रूप धारण कर लेती है ?

जहाँ तक संस्कारों और वासनाओं की बात है, ये भी मनुष्यात्मा के साथ ही मनुष्य-योनि में ही जाते हैं क्योंकि जैसे देहान्त से पहले वे मनुष्यात्मा में मनुष्य-योनि में व्याप्त थे वैसे ही देह त्याग के बाद भी उस आत्मा के साथ मनुष्य-योनि में ही जाते हैं। देह त्याग के बाद उन संस्कारों के पुनः मनुष्य-योनि में जाकर व्यक्त होने की बात को असम्भव मानने का तो कोई कारण ही नहीं है। हम संसार में विभिन्न संस्कारों, विचारों तथा वासनाओं वाले मनुष्य तो देखते ही हैं; तो यह क्यों न माना जाय कि वे आत्माएँ अपने-अपने पहले के मानवी जन्मों ही के संस्कारों को भी साथ लाई हैं। हम यह क्यों मानें कि मनुष्यात्मा के बुरे संस्कार उसे पशु-योनि में ले गये हैं, क्या मनुष्य योनि में वैसे बुरे संस्कार नहीं होते हैं ? यदि होते हैं तो मानना पड़ेगा कि चाहे मनुष्यात्मा के संस्कार बुरे क्यों न हों, फिर भी वह जन्म मनुष्य-योनि में ही लेती है। हाँ, वह बुरे कर्मों का फल अवश्य ही दुःख के रूप में भोगती है।

अतः वास्तविकता तो यह है कि मनुष्यात्मा के संस्कारों के

परिणामस्वरूप उसकी पशु-जैसी शक्ल वाली देह नहीं मिलती वल्कि पशु जैसी अक्ल मिलती है, उसको पशु-जैसा तन नहीं मिलता, पशु-जैसा उसका मन हो जाता है, उसे पशु-जैसी प्रकृति नहीं मिलती वल्कि उसकी प्रवृति, वृत्ति अथवा कृत्ति पशु-जैसी हो जाती है। उसके कर्मों और संस्कारों के परिणामस्वरूप उसका भाग्य परिवर्त्तन, प्रारब्ध-परिवर्त्तन और स्वभाव-परिवर्त्तन हो जाता है परन्तु योनि-परिवर्त्तन नहीं होता। वह मनुष्य की देह छोड़कर वन्दर की देह नहीं लेता परन्तु मनुष्य-देह में वन्दर से भी वदतर (तुच्छ) होता है।

इसके अतिरिक्त, हम देखते हैं कि मनुष्य-योनि में एक नव-जात शिशु अपनी माता से दूध चूसता है जव कि मुर्गे का नव-जात वच्चा दाना चुगता है। एक में शुरू से ही चूसने तथा दूसरे में चुगने के जो संस्कार हैं, उनसे ही सिद्ध है कि दोनों की बीजरूप आत्माएँ ही भिन्न हैं। मुर्गी के वच्चे को जन्म-जन्मान्तर से चुगने ही का अभ्यास है और मनुष्य के वच्चे को चूसने का। इससे स्पष्ट है कि योनि-परिवर्त्तन का सिद्धान्त ग़लत है। मनुष्य अपने अच्छे और वुरे कर्मों का फल मनुष्य-योनि में ही भोगता है वर्ना, ८४ लाख अर्थात् सूअर, कुकर आदि योनियाँ मनुष्य के लिए भोग-योनियाँ नहीं हैं।

सोचने की वात है कि यदि मनुष्यात्माएँ अपनी वुरी प्रवृत्तियों के सुधारने के लिए पशु-पक्षी आदि योनियों में जाती हैं तो वहाँ से लौटने पर फिर जब वे मनुष्य-योनि में जन्म लेती हैं तो एक ही माता-पिता के दो बच्चों के संस्कारों में अन्तर क्यों होता है ?

यदि मनुष्यात्मायें पशु-पक्षी आदि योनियों में जातीं तो अति बुद्धि वाले मनुष्य नहीं होते

हम संसार में अनेक ऐसे मनुष्य भी देखते हैं जोकि किसी विशेष विषय में चमत्कार दिखाते हैं। उस विषय में उन्हें विशेष प्रतिभा (Brilliance), आधिपत्य (Hold) अधिकार (Authority), या प्रभुत्व (mastery) प्राप्त होता है। कोई बाल्यावस्था से ही शास्त्रों को सहज

ही कण्ठ करने में माहिर होता है तो कोई गणित विद्या में असाधारण (Extra-ordinary) योग्यता दिखाता है। कोई छोटी आयु में ही विज्ञान के आविष्कार करने लग जाता है तो कोई बड़ा होकर एक वीर और कुशल सेनानी या सफल प्रबन्धक सिद्ध होता है। कोई कविता करने में चमत्कार दिखाता है तो कोई वैराग्य या भक्ति-भावना से भरपूर दीखता है। तो प्रश्न उठता है कि अमुक-अमुक विषय में जो चमत्कारी पुरुष या अति-बुद्धि वाले मनुष्य (Genius) होते हैं, क्या वे पशु-पक्षी या कीट-पतंग आदि योनियाँ भोग कर आये होते हैं ? गम्भीरता से सोचने पर इसका उत्तर नकारात्मक (Negative) ही मिलेगा। स्पष्ट है कि पहले भी मनुष्य-योनि में इस विषय का सफल अभ्यास होने के कारण ये आत्माएँ सतत् संस्कार साथ ले आई होती हैं। फिर हम यह भी देखते हैं कि ये अति-बुद्धि वाले पुरुष भी संसार के रोग-शोक या जरा-मृत्यु या अन्य किसी प्रकार के दुःख और अशान्ति से भी प्रभावित होते हैं, वे दुःख और अशान्ति से पूर्णतः मुक्त नहीं होते हैं। अतएव स्पष्ट है कि वर्त्तमान चमत्कारी जीवन से पहले मनुष्य-योनि में उन्होंने जो बुरे कर्म किये होते हैं, उनके फलस्वरूप तो अब वे शारीरिक दुर्बलता या रोग या निर्धनता आदि के रूप में दुःख पाते हैं और जो उनका सफल पूर्वाभ्यास होता हैं, उसके विकास के फलस्वरूप अब वे कोई चमत्कारी या प्रतिभाशाली कार्य करते हैं। तो आप ही बताइये कि मनुष्यात्मा के पशु-योनि में जाने की मान्यता को भला क्यों सत्य माना जाय ?

यहाँ कोई कह सकता है कि—"कुछ मनुष्यात्माएँ तो देहान्त के बाद मनुष्य-योनि में ही जन्म लेकर सुख-दुःख भोगती हैं परन्तु अधिकांश संख्या में वे बुरे कर्मों के कारण पशु-पक्षी, कृमि-जलचर आदि योनियों में जाती हैं।" परन्तु वास्तव में उनका यह कथन थोथा और तथ्यहीन है क्योंकि यदि कुछ मनुष्यात्माएँ बुरी वासनाओं तथा कलुषित संस्कारों के होते हुए भी मनुष्य-योनि में जन्म ले सकती हैं

तो सभी पर यह नियम क्यों लागू नहीं होता ? अनेक वार आप ने समाचार पत्रों में पढ़ा होगा कि अमुक बच्चे ने अपने पूर्व जन्म के माता-पिता या पत्नी आदि का नाम तथा अपने गाँव का नाम वताया और जब वहाँ उसे ले जाया गया तो उसने सभी को पहिचाना, अपने पूर्व जन्म के हालात बताये और अपनी मृत्यु का भी कारण बताया। ऐसे वृत्तान्त आये दिन समाचार पत्रों में छपते ही रहते हैं। परन्तु ऐसा तो आज तक कभी भी किसी बालक ने यह नहीं वताया और न प्रमाणित ही किया है कि वह पूर्व-जन्म में किसी पशु-पक्षी, कृमि या जलचर योनि में था। अतः इससे मनुष्यात्मा का मनुष्य-योनि में पुनः-जन्म होना तो प्रमाणित होता है। परन्तु मनुष्यात्मा का पशु आदि योनियों में पुनर्जन्म होना किसी भी रीति से सिद्ध नहीं होता।

एक वार यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि दिल्ली की एक लड़की ने कहा है कि हमारे पूर्वजन्म का पति मथुरा में है। उसका नाम-पता उस लड़की ने दिया था। वह आदमी ठीक मथुरा में पाया गया और उस लड़की ने उसे पहचान लिया और ऐसी बात भी कही कि जिसे उस पति के अतिरिक्त अन्य कोई जानता ही न था।

इसी प्रकार, फ़रीदपुर ज़िला, में मदारीपुर गाँव में, एक तीन वर्ष की आयु वाली बालिका एक दिन रोने लगी और उसने हठ किया कि "ज़िला चटग्राम में हमारा घर है, वहीं हमको ले चलो।" उसने अपने घर का पूरा पता दिया। उसने यह भी कहा कि मेरे तीन लड़के और चार लड़कियाँ हैं। उसकी सभी बातें ठीक निकलीं।

अभी कुछ समय पूर्व नई देहली से प्रकाशित होने वाले एक मुख्य समाचार पत्र, दैनिक "इन्डियन ऐक्सप्रेस" में एक समाचार में बताया गया था कि टर्की (Turkey) में एक बालक एक स्त्री के पास ले जाया गया जो कि पूर्व-जन्म में उसकी पत्नि थी। जब उस स्त्री ने उसे (भूतपूर्व पति को) नहीं पहचाना तो उस वालक ने इस स्त्री को यह वात कही कि---"तुम मुझे नहीं पहचानती, मैंने ही तो पूर्व जन्म में,

जबकि तुम मेरी पत्नी थी, क्रोध में आकर तुम्हें छुरा घोंपा था।" तब वह स्त्री समझ गई कि उसके पूर्व पति की आत्मा ने अब यह दूसरा मानवी शरीर लिया है। समाचार पत्र में यह आवेदन था कि डा० बनर्जी के पास ऐसे ५०० व्यक्तियों की जानकारी है जिनसे कि मनुष्य-योनि में पुनर्जन्म के होने की बात सिद्ध होती है उनमें से कई ऐसे हैं जो वे अपने पूर्वजन्म के हालात बताते हैं और कई-एक का तो अभी का व्यवहार ऐसा है जिससे लगता है कि देहान्त के बाद आत्मा ने इस शरीर में प्रवेश किया है।

अब ऊपर टर्की के व्यक्ति का जो जन्म-पुनर्जन्म-सम्बन्धी वृत्तान्त दिया गया है उस पर आप किंचित विचार कीजिए। **जबकि छुरा घोंपने वाला वह व्यक्ति दूसरा जन्म भी मनुष्य-योनि में ले सकता है तो यह क्यों न माना जाय कि मनुष्य का पुनर्जन्म सदा मनुष्य-योनि ही में होता है, चाहे उस जन्म में उसे दुःख मिले चाहे सुख—यह दूसरी बात है।**

मनुष्यात्मा भले ही परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म है तथापि उसमें जो मौलिक अथवा **अन्तर्निहित अनादि योग्यतायें** या अनादि स्वभाव-आदि हैं, वह अन्य योनियों की आत्माओं से भिन्न हैं इसलिए वह कभी भी पशु-देह या पक्षी-देह नहीं लेती या कृम्यादि योनियों में नहीं जाती। इस विषय में समझने योग्य एक आवश्यक बात यह है कि जो लोग योनि-परिवर्त्तन के सिद्धान्त को मानते हैं, वे मन-बुद्धि को आत्मा से अलग, आत्मा की सूक्ष्म इन्द्रियों अथवा प्राकृतिक अन्तःकरण के रूप में मानते हैं, परन्तु वास्तव में 'मन' आत्मा से अलग कोई प्राकृतिक सत्ता नहीं है, न ही संस्कार या वासनाएँ आत्मा से अलग किसी प्रकृति तत्त्व निर्मित मन में रहती हैं, बल्कि मन-बुद्धि स्वयं आत्मा ही की संकल्प-विकल्प, मनन-चिन्तन, सूझ-बूझ, स्मृति-विस्मृति, धारणा-ध्यान आदि योग्यताओं के नाम हैं। इन्हीं की संग्रहित शक्ति ही तो आत्मा की 'चेतना' नाम से मानी जाती है। इस रहस्य को समझने से सारा भेद समझ में आ सकता है कि

मनुष्यात्माएँ पशु-पक्ष्यादि योनियों में क्यों नहीं जाती या क्यों नहीं जा सकतीं।

क्या देहान्त के बाद मनुष्यात्मा ८४ लाख योनियों में जाती है ?

विशेषकर भारत में जो धर्म अथवा मत स्थापित तथा प्रचलित हुए, उनकी एक मुख्य मान्यता यह भी रही है कि देहान्त के बाद मनुष्यात्मा अपने कर्म-फल के अनुसार ८४ लाख योनियों में जाती है और उन योनियों में प्रारब्ध भोग के बाद वह पुनः मनुष्य-योनि में लौट आती हैं। अब हम इस मन्तव्य पर विचार करके देखेंगे कि यह मन्तव्य ठीक है या त्रुटिपूर्ण है।

क्या ८४ लाख योनियों की गणना ठीक है या कल्पित हैं ?

जो लोग मनुष्यात्मा का दूसरी-दूसरी योनियों में पुनर्जन्म होना मानते हैं, वे कहते हैं कि मनुष्यात्मा के दण्ड-भोग के लिए ८४ लाख योनियों की व्यवस्था है। उनकी मान्यता है कि इन ८४ लाख योनियों में ९ लाख जलचर, १० लाख पक्षी, ११ लाख कृमि, २० लाख पशु, ३० लाख स्थावर और ४ लाख मनुष्य-योनियाँ हैं।

अब इस गिनती पर ध्यान देने से आप देखेंगे कि जलचर, पक्षी, पशु, मनुष्य या कृमि किसी भी योनि के बारे में यह नहीं कहा गया कि वह इतने लाख, इतने हजार, इतने सौ इतने हैं, बल्कि सभी योनियों की संख्या पूरे लाखों में दी है। उदाहरण के तौर पर पक्षियों की योनियों को संख्या पूरे ९ लाख बताई गई है। ९ लाख के साथ कई हज़ार या सौ आदि का अंक नहीं जुड़ा है। यही बात दूसरी योनियों की संख्या के बारे में भी कही जा सकती है। उनकी संख्या से भी लाख की संख्या के साथ इकाई, दहाई, सैंकड़ा वा हज़ार का कोई अंक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि यह गिनती अन्दाजे, अनुमान या कल्पना से ही बताई गई है। वैसे भी यह साधारण विवेक की बात है कि कोई भी मनुष्य कृमि (कीड़े-मकोड़ों आदि) की या

जलचर (जल में रहने वाले जीवों) आदि की संख्या ठीक रीति से गिन कर तो कोई भी यह कह नहीं सकता कि कृमि में या जलचर आदि में कुल इतने प्रकार की योनियाँ हैं। यह गणना तो केवल अनुमान ही के आधार पर मनुष्य कह सकता है। दूसरे, आप इस बात पर भी ध्यान दीजिए कि मनुष्य की जो चार लाख योनियाँ कही गई हैं, उसका क्या अर्थ है ? मनुष्य-योनि तो एक ही है। यदि कोई कहे कि स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि को अलग-अलग गिनाया गया है, तो भी मनुष्य-योनियाँ चार लाख तो होती नहीं हैं। अगर यह कहा जाय कि देव, अप्सरा, पितर, भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, दानव, गंधर्व, किन्नर, यक्ष आदि भी योनियाँ हैं और ये मनुष्य-योनियों में ही सम्मिलित हैं तो भी किसी प्रकार यह संख्या चार लाख तक नहीं पहुँच पाती। अगर कोई कहे कि गोरी, काली, नीली और लाल रंग वाली मनुष्य जातियाँ और ठिगने या लम्बे कद वाली मनुष्य जातियाँ भी अलग-अलग योनियाँ ही हैं तो यह कहना ग़लत होगा क्योंकि यह तो मनुष्य-योनि ही के अन्तर्गत विविध आकृतियाँ हैं। ये कोई अलग-अलग योनियाँ नहीं हैं, न ही इस प्रकार मनुष्य-योनियों की संख्या चार लाख होती है। इस प्रकार असुर, साकार देवता आदि भी अलग योनियाँ नहीं हैं। तो आप देखेंगे कि आज तक किसी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि चार लाख मनुष्य-योनियाँ कौन-सी हैं। जैसे आज सरकार के जन-गणना विभाग (Census Department) के कर्मचारी करोड़ों देशवासियों की नामावली या सूची तैयार करते हैं तो चार लाख मनुष्य-योनियों की सूची भी तैयार हो सकती है। परन्तु जब चार लाख योनियाँ हैं ही नहीं तो उनकी सूची कौन बनाए और कैसे बनाए ? अतः स्पष्ट है कि चार लाख मनुष्य-योनियों की क़ल्पना और, इसी प्रकार, ८४ लाख योनियों में जन्म-पुनर्जन्म की कल्पना भी निराधार ही है।

मनुष्यात्मा के पशु-कृमि आदि योनियों में जाने पर क्या आपत्ति है ?

कोई व्यक्ति प्रश्न कर सकता है कि— आत्मा तो बाल की नोक

के सौवें भाग के पुनः सौवें भाग से भी अधिक सूक्ष्म है, अतः वह चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त किसी भी योनि में जा सकती है; तो फिर पशु, पक्षी या कृमि-योनि में उसके आवागमन होने पर आपत्ति क्या है ? यह प्रश्न तो वैसा ही है जैसे कि कोई कहे कि पीपल का बीज और बरगद का बीज माप-तोल और आकृति में तो लगभग एक-जैसे ही होते हैं, उनमें बहुत अन्तर नहीं होता, तब फिर पीपल के बीज से बरगद या बरगद के बीज से पीपल का वृक्ष पैदा क्यों नहीं हो जाता ? स्पष्ट है कि दोनों बीजों की जाति [Species] ही अलग-अलग है क्योंकि दोनों में अन्तर्निहित (dormarnt) योग्यताएँ ही भिन्न-भिन्न हैं। ठीक इसी प्रकार, मनुष्यात्मा भले ही परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म है तथापि उसमें जो मौलिक अथवा अन्तर्निहित अनादि योग्यताएँ या अनादि स्वभाव आदि हैं, वह अन्य योनियों की आत्माओं से बिल्कुल भिन्न हैं, इसलिए वह कभी भी पशु-देह नहीं लेती या कृम्यादि योनियों में नहीं जाती। इस विषय में समझने-योग्य एक आवश्यक बात यह है कि जो लोग योनि-परिवर्त्तन के सिद्धान्त को मनाते हैं, वे मन-बुद्धि को आत्मा से अलग, आत्मा की सूक्ष्म इन्द्रियों अथवा प्राकृतिक अन्तःकरण के रूप में मानते हैं। परन्तु वास्तव में 'मन' आत्मा से अलग कोई प्राकृतिक सत्ता नहीं है, न ही संस्कार या वासनाएँ आत्मा से अलग किसी प्रकृति तत्व-निर्मित मन में रहते हैं, बल्कि मन-बुद्धि, स्वयं आत्मा ही की संकल्प-विकल्प, मनन-चिन्तन, सूझ-बूझ, स्मृति-विस्मृति, धारणा-ध्यान आदि योग्यताओं के नाम हैं। इन्हीं की संग्रहीत शक्ति ही तो आत्मा की 'चेतना' नाम से मानी जाती है। इस रहस्य को समझने से सारा भेद समझ में आ सकता है कि मनुष्यात्माएँ पशु-पक्ष्यादि योनियों में क्यों नहीं जातीं या क्यों नहीं जा सकतीं ?

—०—

मनुष्यात्मा के ८४ जन्मों का चक्कर

मनुष्यात्माएँ ५००० वर्षों के सृष्टि-चक्र में कुल ८४ जन्म लेती हैं। इन ८४ जन्मों का और ५००० वर्ष के चक्र का ज्ञान न होने के कारण ही "८४ के चक्कर" की उक्ति को लेकर शायद ८४ लाख योनि की कल्पना की गई है। इन ५००० वर्षों में सत, त्रेता, द्वापर और कलि, हरेक युग की आयु १२५० वर्ष होती है और भारत के मनुष्य की औसत आयु सतयुग में १५० वर्ष होने से उसके कुल ८ जन्म होते हैं। त्रेतायुग में औसत आयु १२५ वर्ष होने से कुल १२ जन्म होते हैं अर्थात् सतयुग और त्रेता युग, दोनों को मिलाकर कुल २५०० वर्षों में भारत-वासी मनुष्यात्माओं के कुल २१ जन्म होते हैं, द्वापर युग में औसत् आयु कम हो जाने से उनके कुल २१ जन्म होते हैं और कलियुग में आयु क्षीण हो जाने से कुल ४२ जन्म होते हैं। इस प्रकार ५००० वर्ष के सारे कल्प में भारत-वासियों के कुल ८४ जन्म होते हैं। पुराणवादी लोग कहते हैं कि भारतवर्ष का वर्णन करते हुए विष्णु पुराण में लिखा है कि इस द्वीप में मनुष्य ५००० वर्ष तक जीते हैं और कि श्रीमद्भागवत् में लिखा है कि भारतवर्ष के निवासियों की एक-एक कल्प की आयु होती है। इन दोनों बातों को मिलाने से स्पष्ट होता है कि चारों युगों अथवा कल्प की आयु ५००० वर्ष है क्योंकि भारत में ही चारों युग होते हैं और इसका ५००० वर्ष का पुराना इतिहास भी है। अन्य देशों और धर्मों का इतिहास २५०० वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। पुनश्च, भारत में ८४ घण्टे वाले मन्दिरों की जो प्रथा चली आ रही है और "८४ का चक्कर" —यह जो उक्ति है, इससे भी स्पष्ट है कि इन ५००० वर्षों के समय (कल्प) में भारतवासी मनुष्य ८४ जन्म-पुनर्जन्म के चक्कर में आते हैं।

आधा समय सुख और आधा समय दुःख

परमपिता शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा के द्वारा हमें जो सहज ज्ञान दिया है, उसके आधार पर हम जानते हैं कि इस सृष्टि में आधा समय सुख

और आधा समय दुःख होता है। यहाँ सतयुग और त्रेतायुग में सम्पूर्ण सुख-शान्ति और स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है और द्वापर तथा कलियुग में दुःख-मिश्रित सुख अथवा दुःखात्मक सुख अथवा दुःख ही होता है। यह बात तो, लगभग सभी धर्मावलम्बियों ने मानी है कि सतयुग में लोग सुखी, निरोगी और शान्ति-सम्पन्न होते हैं। अतः सतयुग और त्रेतायुग की सृष्टि को 'स्वर्ग' (Paradise) भी कहा गया है। इन दो युगों में मनुष्य की जो अवस्था होती है, वही सद्गति की अवस्था होती है, वह अवस्था कुल २१ जन्म के लिए प्राप्त होती है; अतः भारत में यह उक्ति भी है कि –"मनुष्य की २१ जन्म के लिए सद्गति हो सकती है" पुराणवादी लोग कहते हैं कि श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद के प्रसंग में भी लिखा है कि उसे भगवान् ने वर दिया था कि—"२१ पुरुखे सद्गति को प्राप्त होंगे।" अब वास्तव में यहाँ प्रह्लाद की कथा का जिस रीति से वर्णन किया गया है उसका वैसा अर्थ लेना तो विवेक-संगत नहीं है क्योंकि वास्तविक कथा अथवा उसका भावार्थ कुछ और ही है जो कि अलग ही समझने के योग्य है, परन्तु यहाँ हम इस बात की ओर संकेत कर देना चाहते हैं कि सद्गति की प्राप्ति अधिकाधिक २१ जन्मों ही के लिए गाई हुई है। हमने ऊपर सतयुग और त्रेतायुग के २५०० वर्षों में २१ जन्म और सारे कल्प में ८४ जन्म गिनाए हैं। मनुष्य-योनि के इन्हीं ८४ जन्मों में, न कि ८४ लाख योनियों में मनुष्यात्मा भ्रमण करती है।

—o—

आत्मा के तीनों कालों की कहानी

अपने-आपको पूरी तरह जानने के लिए यह भी जानना जरूरी है कि यह सृष्टि एक विराट नाटक है। सबसे पहला युग 'सतयुग' है, जिसमें परमधाम से केवल वही आत्माएँ इस सृष्टि-मंच पर पार्ट बजाने आती हैं जो कि सतोप्रधान स्वभाव वाली और १६ कला पवित्र होती हैं। उस युग में काम-क्रोधादि विकार तथा दुःख और अशान्ति नाम-मात्र भी नहीं होते। उस युग के लोग 'देवी-देवता' कहलाते हैं और उस समय की सृष्टि ही 'स्वर्ग' है। १२५० वर्ष के सतयुग के बाद त्रेतायुग में सतोसामान्य स्वभाव वाली आत्माएँ ब्रह्मलोक से इस सृष्टि पर आती हैं और सतयुग में आई हुई आत्माएँ भी २ कलायें कम अवस्था को प्राप्त होकर जन्म-पुनर्जन्म लेती रहती हैं।

१२५० वर्ष त्रेतायुग के बाद द्वापर युग आता है, तब रजोगुणी स्वभाव की आत्मायें आती हैं और सतयुग तथा त्रेतायुग में आई हुई आत्मायें भी अब रजोगुणी स्वभाव वाली हो जाती हैं। अब आत्मायें काम-क्रोधादि विकारों से आक्रांत होती हैं और, इसलिए, वे दुःख तथा अशान्ति भी भोगती हैं और अब सुख तथा शान्ति की प्राप्ति के लिए भक्ति, पूजा, यज्ञ, तप आदि शुरू होते हैं। इस प्रकार १२५० वर्ष के बाद कलियुग आता है।

कलियुग में सभी आत्माएँ तमोगुणी स्वभाव वाली होती हैं। पूर्व युगों में आई हुई आत्मायें भी अपनी सतो गुणी पवित्रता और धर्म की कलायें खो बैठती हैं और उनका जन्म-पुनर्जन्म होते रहने से मनुष्य-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और सृष्टि में दुःख तथा अशान्ति भी बढ़ती जाती है।

कलियुग के अन्त में, जब धर्म की अत्यन्त ग्लानि होती है और सभी आत्मायें तमोप्रधान, दुःखी तथा अशान्त होती हैं, तब सभी आत्माओं से श्रेष्ठ, जन्म-मरण और सुख-दुःख से न्यारे, ज्ञान, शान्ति और आनन्द के सागर परमपिता परमात्मा शिव (जिनका ही पार्थिव स्मरण-चिह्न

शिवलिंग अथवा संगे असवद है), परमधाम से इस सृष्टि में आते हैं। सतयुग के शुरू में जो मनुष्यात्मा १६ कला सम्पूर्ण पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ थी और 'श्री नारायण' के नाम से सदेह होकर सारें विश्व पर राज्य करती थी और जो सत-त्रेता-द्वापर-कलि में पुनर्जन्म लेते-लेते अब अपने ८४वें जन्म की वृद्धावस्था में होती है, उसके साधारण मानवी तन में परमपिता परमात्मा शिव दिव्य प्रवेश करते हैं। उसको अब वह 'प्रजापिता ब्रह्मा' नाम देते हैं। उसके श्री-मुख द्वारा वह वास्तविक गीता-ज्ञान और सहज राजयोग की शिक्षा देते हैं। उस ज्ञान योग द्वारा वह पुनः आत्माओं को पतित से पावन बनाते, मनुष्य को देवता बनाते, नर को श्री नारायण और नारी को श्री लक्ष्मी बनाते अथवा सभी को मुक्ति तथा जीवन्-मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं। जब वह यह कार्य कर चकते हैं तो ऐटम और हाईड्रोजन बमों के महायुद्ध द्वारा तथा गृह-युद्धों द्वारा कलियुगी पतित सृष्टि का महाविनाश हो जाता है। तब सभी आत्माएँ परमधाम अथवा ब्रह्मलोक को लौट जाती हैं। जो आत्माएँ उस काल पूर्णतः पवित्र नहीं बनी होतीं, वे सूक्ष्म लोक में, धर्मराजपुरी में अपने रहे हुए विकर्मों के परिणामस्वरूप दण्ड भोगती हैं। तब इस सृष्टि में पुनः सतयुग का आरम्भ होता है और जो आत्माएँ १६ कला पवित्र वन कर गई होती हैं, वे कुछ काल मुक्ति-अवस्था में रहने के बाद, सतयुगी सृष्टि रूपी स्वर्ग में आकर जीवन्मुक्त देव-पद प्राप्त करती हैं और इस प्रकार फिर सुख भोगती हैं।

अब संगम युग चल रहा है। अब जो आत्माएँ ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग द्वारा जितना पवित्र वन रही हैं, उस अनुसार ही उन्हें अपने तीनों कालों को जान लेना चाहिए।

अधिक स्पष्टीकरण के लिए पाठकगण प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय के किसी भी सेवा-केन्द्र पर सम्मुख पधार कर लाभ उठा सकते हैं।

संसार के सभी दुःखों की निवृत्ति का एक उपाय

अब परमपिता परमात्मा शिव नें प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा यह समझाया है कि संसार में जितने भी प्रकार के दुःख हैं, उन सभी के कारण हैं—छः विकार जिन्हें 'षट-रिपु' या 'छः दोष' भी कहा जाता है। आज हर-एक मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और सुस्ती में से एक-न-एक विकार थोड़ा-बहुत अवश्य है।

इन छः विकारों का भी मूल क्या है ? ईश्वरीय ज्ञान अथवा विवेक रूपी अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर आप इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि इन छः विकारों का भी जो मूल कारण अथवा कीटाणु है—'देह-अभिमान'। इस देह-अभिमान (Body-consciousness) के कारण ही मनुष्य को अनेकानेक दुःख हैं।

स्वयं को एक देह मानने के कारण मनुष्य इस संसार में अन्य देह-धारियों के साथ अनेक प्रकार के दैहिक नाते तो जोड़ने लग जाता है और आत्मा का जो नाता सुखदाता परमात्मा के साथ है, उसे वह भूल जाता है। वह देह-धारियों से जब मोह का सम्बन्ध जोड़ लेता है और फिर उन सम्बन्धियों की हानि, पराजय तथा शोक होने पर स्वयं भी दुःख मानता है। वह जिन देह-धारियों को स्वजन के रूप में अपनाता है, उनसे सहयोग या मान न मिलने पर उन पर क्रोध करके अशान्त हो जाता है, या तो जीवन की दौड़ में उन्हें अपने से अधिक सफलता तथा यश प्राप्त करता देखकर उनसे ईर्ष्या करने लगता है और, इस प्रकार, अपने मन की शान्ति को खो बैठता है। वह देह के आधार पर पुरुष या स्त्री के भान में आकर काम विकार के वशीभूत होता है और अपने ओज और तेज को खो कर शरीर को दुर्बल कर बैठता है, बुढ़ापे तथा मृत्यु की ओर बढ़ना शुरू करता है और अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों का शिकार होने लगता है। फिर 'काम' विकार के परिणाम-स्वरूप वह जो सन्तति पैदा करता है उसके दुःख में दुःखी रहने लगता है और वह उनमें ममता करके सारा दिन उन्हीं के लिए

कमाने तथा घर बनाने में लगा रहता है और अपने ही किये को सुधारने की बजाय वह यही शिकायत करता फिरता है कि 'हाय, मैं दलदल में फँस गया हूँ, मेरी जीवन-नाव भंवर के बीच में आई है !' काम विकार के वशीभूत होकर अपने तेज को और शान्ति को नष्ट करने के कारण वह अपने विवेक को तथा सहनशीलता को भी खो बैठता है और क्रोधी स्वभाव का बन बैठता है। देह के आधार पर वह जिसे अपनी स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि मानता है, उनकी इच्छायें पूर्ण करने के लिए वह अधिकाधिक धन पैदा करने का यत्न करता है और थोड़ा धन पाकर अधिक का लोभ करता है और उस अभ्यास से उस लोभी नर की तृष्णा नहीं मिटती और असन्तोष के परिणामस्वरूप वह अशान्ति का अनुभव करता है, जब वह सन्तति पैदा कर लेता है और सुन्दर घर और अधिक धन बना लेता है या कुछ प्रसिद्ध लोगों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है तो, "मैं सेठ हूँ, चार बच्चों का बाप हूँ, एक ऊँचे खान-दान का व्यक्ति हूँ, बड़े-बड़े लोगों में मेरा उठना-बैठना है"—इस प्रकार का उसे अभिमान हो जाता है। जब ऐसे अभिमानी व्यक्ति को दूसरा कोई उतना मान नहीं देता तो उसके मन को एक चोट लगती है। इस प्रकार आप देखेंगे कि देह-अभिमान ही सभी प्रकार के रोगों, दुःखों, कष्टों और सभी समस्याओं का एक मूल कारण है।

अतः अब परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं कि—'हे वत्सो, यदि आप सदा के लिए सम्पूर्ण सुख और शान्ति को चाहते हैं तो इस देह-अभिमान रूपी विष या किटाणु को नाश करने का उपाय करो। इस उद्देश्य से देही-निश्चय अथवा आत्म-निष्ठ बनो और सब देह-धारियों की तरफ़ से मन की आसक्ति हटाकर एक मुझ ज्योति-स्वरूप परम-आत्मा शिव ही की स्मृति में स्थित होवो। इस सहज युक्ति से संसार के सारे कष्ट मिट जायेंगे और सतयुगी दैवी सृष्टि स्थापित हो जायेगी, अर्थात् यह संसार सुखधाम, वैकुण्ठ, गार्डन ऑफ़ फ्लावर्स, फूलों का बग़ीचा या क्षीर सागर बन जायेगा'। ॐ शान्ति

—०—

हमारे कुछ अन्य प्रकाशन

योग की विधि और सिद्धि
साप्ताहिक पाठ्यक्रम
प्रभु मिलन कैसे हो ?
जीवन को पलटाने वाली एक अद्भुत जीवन-कहानी
दिव्य गुणों का गुलदस्ता
कमल पुष्प-सम पवित्र जीवन
परमात्मा कौन है और किधर है ? वह क्या करता है और क्या नही करता ?
परमात्मा का अवतरण कब, क्यों और कैसे ?
मौत के बाद क्या और मौत से पहले क्या ?
आत्मा और परमात्मा की पहचान
सहज ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग
परमात्मा कहाँ है ?
प्रजापिता ब्रह्मा-कुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय का परिचय
ईश्वरानुभूति का मार्ग एक है या अनेक ?
आत्मा के तीनों कालों की कहानी
जीवन हीरे-तुल्य कैसे बने ?
विकारों पर विजय
जीवन में सुख-शान्ति
घर-गृहस्थ में योग
ज्ञानामृत पत्रिका (मासिक)
A HAND-BOOK OF GODLY RAJA YOGA
One Week Course
Peace of mind and World Peace
How to make Life Blissful
THE WAY AND THE GOAL OF RAJA YOGA
World Renewal Magazine

मिलने का पता :—

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय

[illegible] नगर देहली-७

महाभारत

का

यथार्थ स्वरूप व पुनरावृत्ति

दिव्य सन्देश

पवित्र बनो

पतितपावन सर्व के जीवनमुक्ति दाता परम-पिता परमात्मा शिव कहते हैं।

'हे भारतवासी रूहानी बच्चों ! इस कलि-युगी अन्तिम पतित जन्म में पवित्र हो रहने से और परमपिता शिव परमात्मा के साथ बुद्धियोग बल की यात्रा से तमोप्रधान आत्मा से फिर से सतोप्रधान आत्मा बन सत्युगी विश्व पर पवित्रता, सुख, शान्ति सम्पन्न दैवी स्वराज्य फिर पा सकते हो। ५००० वर्ष पहले की तरह।'

योगी बनो

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय

पाण्डव भवन, आबू
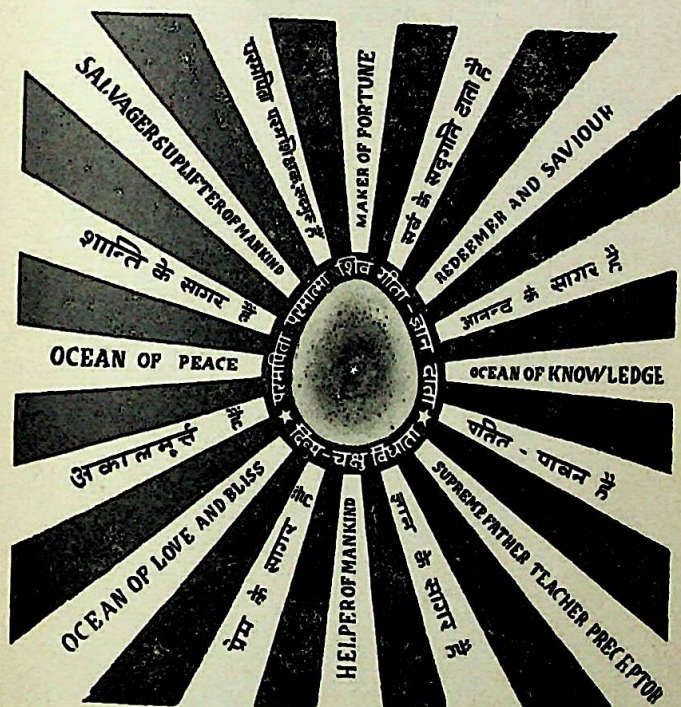
कलियुगी, तमोप्रधान, पतित, भ्रष्टाचारी सृष्टि को
सत्युगी, सतोप्रधान, पावन, श्रेष्ठाचारी बनाने हेतु
रुद्र ज्ञान यज्ञ अथवा प्रजापिता ब्रह्माकुमारी
ईश्वरीय विश्वविद्यालय के संस्थापक
परमप्रिय परमपिता शिक्षक-सद्गुरु
परमात्मा ज्योतिर्बिन्दु

शिव

विषय-सूची

●

मुद्रक—रोहिताश्व प्रिंटर्स, २६८, ऐशबाग रोड, लखनऊ—२२६००४.

फोन : २३९७३

प्रस्तावना

महाभारत की ऐतिहासिक सत्यता पर कुछ विद्वानों द्वारा सन्देह व्यक्त किये जाने के कारण वर्तमान समय में जो विवाद चल रहा है उसमें तीन पक्ष उभर कर सामने आये हैं—एक वह जो इसे एक सत्य घटना का सत्य वर्णन मानते हैं, दूसरे वह जो इसे कपोल-कल्पित और कथा-कार के उर्वरक बुद्धि की उपज बताते हैं और तीसरा पक्ष वह है जिसके अनुसार गीता और महाभारत युद्ध जैसी घटनायें अवश्य घटीं परन्तु उनकी व्याख्या ऐतिहासिक रूप से न होकर सांकेतिक रूप से हुई और उसमें बाद में कुछ अन्य बातें मिश्रित होने के कारण उसका स्वरूप वास्तविक स्वरूप से भिन्न हो गया। इस पक्ष का ध्यान पौराणिक कथाओं और इन कथाओं पर आधारित भारतीय चित्रकला और मूर्ति-कला की ओर गया जिसमें देवियों के शौर्य को बहुभुजाओं द्वारा, दानवों की दानवी वृत्तियों को उनकी भयंकर आकृतियों द्वारा व अन्य भाव इसी प्रकार सांकेतिक रूप से प्रकट किये गये हैं। तीसरे पक्ष ने यह विचार प्रकट किया है कि महाभारत युद्ध एक विश्वव्यापी विनाशकारी युद्ध था जिसे 'प्रलय' की संज्ञा दी जा सकती है। पुराणों के अंत:साक्ष्य का विश्लेषण करने के पश्चात प्रसिद्ध विद्वान प्रो० अच्युत दत्तात्रेय ने इस प्रलय का काल ३१०० ई० पू० माना है जो समय महाभारत के समय से मेल खाता है।

इस पुस्तिका में विचार दिया गया है कि ऐसे विश्वव्यापी विनाश-कारी युद्ध के पूर्व स्वयं भगवान ने मनुष्यमात्र के कल्याण अर्थ गीता वर्णित आत्मा, परमात्मा और सृष्टि चक्र का ज्ञान देकर नष्टोमोहा बनने और अपने अन्दर छिपे पंचविकारों से युद्ध करने का पाठ पढ़ाया था। यह पाठ केवल एक अर्जुन को नहीं परन्तु अर्जुन के माध्यम से मनुष्यमात्र को दिया था। इस प्रकार कुरुक्षेत्र का सीमित मैदान

युद्धक्षेत्र न होकर सारा विश्व ही युद्धक्षेत्र था। परमपिता परमात्मा के ज्ञान देने का क्षेत्र भी पूरा विश्व था। इस ज्ञान द्वारा ही उन्होंने अधर्म का विनाश करा कर 'सत्धर्म' की स्थापना की थी। अधर्म की पराकाष्ठा कलियुग के अन्त में होती है और सत्युग में ही पूर्ण सत्धर्म व्याप्त होता है। इस प्रकार युगचक्र में महाभारत युद्ध का समय कलियुग के अन्त और सत्युग के आदि के बीच का संगम समय था। प्रचलित मान्यता कि यह समय द्वापर के अन्त का था, ठीक नहीं है, इसलिये विषय के इस पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है। जहाँ मानव मस्तिष्क में भरे 'अधर्म' अथवा 'अज्ञान' का विनाश परमपिता परमात्मा ने ज्ञान द्वारा किया वहीं पर 'अधर्मियों' का विनाश अधर्मियों ने स्वयं अपने हाथों एक दूसरे पर घातक अस्त्र छोड़ कर किया जिसके लिये कहा गया है कि यदुवंशियों ने अपने पेट से मूसल निकालकर अपने कुल का विनाश किया।

प्रस्तुत पुस्तिका में यह भी विचार दिया गया है कि चारों युगों का कुल समय ५००० वर्ष है। प्रत्येक ५००० वर्ष के पश्चात घटनाओं की पुनरावृत्ति होती रहती है। महाभारत आज से ५००० वर्ष पूर्व घटित घटना है जिसकी पुनरावृत्ति पुनः वर्तमान समय हो रही है। विश्व फिर प्रलय के कगार पर खड़ा है। विश्वयुद्ध में बहुसंख्या में मनुष्य अपनी ही विकृत बुद्धि द्वारा निकाले हुए आणविक व अन्य घातक अस्त्रों द्वारा मानव कुल का विनाश करने को तैयार खड़े हैं। इस ही समय परमपिता परमात्मा भी अवतरित हो अधर्म के विनाश और सत्धर्म की स्थापना का दिव्य अलौकिक कर्तव्य कर रहे हैं। परमात्मा ने आध्यात्मिक क्रांति का बिगुल बजा दिया है। वह प्रायःलोप गीता ज्ञान को पुनः सुना कर मनुष्यों को अधर्म पथ से विमुख कर धर्म पथ पर लाने की चेष्टा कर रहे हैं। इसलिये वर्तमान समय का बहुत बड़ा महत्व है। मानव समाज एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है जहाँ एक ओर विनाश की विभीषिका है और दूसरी ओर सम्पूर्ण पवित्रता, सम्पूर्ण सुख व सम्पूर्ण शांति वाली सत्युगी दैवी संसार स्थापन होने की सम्भावनायें हैं।

उपरोक्त विचार उस ज्ञान पर आधारित है जो स्वयं परमपिता

परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा दिया और इस समय दे रहे हैं। यह उन अनुभवों द्वारा प्रमाणित है जो इस ज्ञान को जीवन में अपनाने वाली आत्माओं को प्राप्त हुआ है। हम निःसंकोच यह बताना चाहेंगे कि ये विचार किसी ऐतिहासिक खोज पर आधारित नहीं हैं। ईश्वरीय ज्ञान द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि वर्तमान समय गीता महाभारत प्रकरण पुनरावृत्त हो रहा है। इस प्रकाश में जब हम पिछले महाभारत की घटनाओं को और उसके बाद के इतिहास को देखते हैं तो बहुत से ऐसे तथ्य सामने आते हैं जो इसकी सत्यता की पुष्टि करते हैं। कुछ तथ्य इस पुस्तिका में दिये गये हैं परन्तु इसके अतिरिक्त भी खोज करने पर ऐसी और भी बहुत सामग्री मिल सकती है जो इन बातों की पुष्टि करे।

यदि इतिहासकार, पुराविद् व ज्योतिषशास्त्री आदि विद्वान हमारे विचारों के प्रकाश में प्राचीन साहित्य के भंडार का व अवशेषों का अध्ययन करेंगे तो हमें आशा है कि वे इस विषय पर ऐसी सामग्री निकालने में सफल होंगे जो गीता महाभारत के विषय में फैली अनेक भ्रान्तियों को दूर कर इस विषय की उलझी गुत्थी को सुलझा सकेगी।

इस पुस्तिका का लक्ष्य न तो किसी का खण्डन-मण्डन करना है और न ही किसी वाद-विवाद के बखेड़े में पड़ना है। यह तो सौहार्द्र भाव से आपस में मिलजुलकर गीता महाभारत जैसे महत्वपूर्ण विषय में जनमानस में फैली भ्रान्ति को दूर करना है। आने वाले समय के प्रति लोगों को सावधान करने के लिये जो प्रचलित मान्यता उलझन पैदा करती हुई जान पड़ी उसकी समीक्षा करना आवश्यक समझा गया ताकि पाठक हर एक बात को स्पष्ट एवं तुलनात्मक रीति से जानकर सही निर्णय ले सकें और वर्तमान समय के विशेष महत्व को समझ कर उस अनुरूप पुरुषार्थ करें।

अन्त में मेरा नम्र निवेदन है कि प्रभु प्रीति, आत्मस्मृति तथा पवित्रता को धारण करते हुए इस पुस्तिका को पढ़ने से विशेष लाभ होगा।

१६/६४, सिविल लाइन्स, कानपुर
शिवरात्रि, २८ फरवरी, १९७६ त्रिलोक चन्द गुप्ता

युग क्रम में महाभारत का समय

भारतीय शास्त्रकारों की मान्यता के अनुसार मानव समाज का इतिहास सत्युग, त्रेता, द्वापर व कलियुग के चार युगों में वृत्ताकार रूप से घूमता रहता है। बहुसंख्यक मान्यता के अनुसार महाभारत का समय ३१०० वर्ष ईसा पूर्व निश्चित किया जाता है। महाभारत काल की वर्णित घटनाओं व सामाजिक अवस्था पर दृष्टि डालने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह समय आज के समान ही घोर कलियुग का था। उस समय विज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर और मानव चरित्र का पतन निम्नतर स्तर पर था जिसके कारण महाभारत वर्णित घटना घटित हुई और विध्वंसक शस्त्रों द्वारा मानव समाज का महा-विनाश हुआ। संसार की वर्तमान अवस्था के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि हम पुनः महाभारत के कगार पर खड़े हैं। इसका अर्थ हुआ कि पिछला महाभारत भी कलियुग के अन्त में हुआ न कि द्वापर के अन्त में जैसी प्रचलित मान्यता है। इसका दूसरा अर्थ उस प्रचलित मान्यता का भी खंडन हुआ जिसके अनुसार कलियुग की आयु ४३२००० वर्ष बताई गई है। पिछले महाभारत को कलियुग के अन्त में घटित घटना मानने पर यह मानना पड़ेगा कि चारो युगों का चक्र केवल ५००० वर्षों में ही घूम जाता है। इसलिए हम पहले कलियुग की आयु पर ही विचार करेंगे।

प्रचलित धारणा

प्रचलित धारणा के अनुसार कलियुग की आयु ४३२००० वर्ष मान्नी जाती है। यह भी मान्यता है कि कलियुग का प्रारम्भ महाभारत युद्ध के तुरन्त बाद हुआ जिसे अभी करीब ५००० वर्ष बीते हैं और कलियुग समाप्त होने में ४२७००० वर्ष शेष है। प्रश्न उठता है कि

यदि इन ५००० हजार वर्षों में ही पृथ्वी पर इतना अत्याचार, अनाचार और अधर्म फैल गया है जिसके कारण मनुष्यात्मायें दुखी और अशान्त हैं, मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के रोगों का बाहुल्य है, नित्यप्रति नये-नये भयंकर युद्धास्त्रों का निर्माण हो रहा है, जल-वायु आदि सब दूषित हो प्रदूषण की समस्या उपस्थित कर रहे हैं तथा जनसंख्या वृद्धि विस्फोटक रूप धारण कर चुकी है। इस गति से ४२७००० वर्षों में इस सृष्टि का क्या होगा ? वह किस अधोगति को प्राप्त करेगी और उस समय के मानव समाज की क्या रूपरेखा होगी ? धर्मग्रन्थों में वर्णित कलियुग के सभी लक्षण तो इसी समय स्पष्ट हैं फिर नया स्वरूप क्या उभरेगा ? इन प्रश्नों में जाने पर विचार आता है कि हो सकता है कि आयु गणना में ही कोई भूल हो। इस लिए उस गणना और उसके आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार करना आवश्यक है।

४,३२,००० वर्ष कैसे ?

इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश लोकमान्य तिलक लिखित गीता के चतुर्थ हिन्दी संस्करण के पृष्ठ १९२ पर मिलता है। मनुसंहिता, भगवद्गीता और महाभारत में वर्णित कालगणना के आधार पर तिलक जी लिखते हैं कि कलियुग की आयु १००० वर्ष है और उससे सम्बन्धित आयु संधियुग २०० वर्ष है अर्थात कुल मिलाकर १२०० वर्ष है। तिलक जी आगे लिखते हैं कि यह मान लेने पर कि कलियुग का प्रारम्भ महाभारत के बाद हुआ यानि आज से ५००० वर्ष पूर्व हुआ तो 'कलियुग का आरम्भ हुए ५००० वर्ष बीत चुकने के कारण, यह कहना पड़ेगा कि हजार मानवी वर्षों का कलियुग पूरा हो चुका, उसके बाद फिर से आने वाला कृतयुग भी समाप्त हो गया और हमने अब त्रेतायुग में प्रवेश किया है। यह विरोध मिटाने के लिये पुराणों में निश्चित किया कि ये वर्ष देवताओं के हैं।'

देवताओं के दिन की व्याख्या करते हुए तिलक जी लिखते हैं 'हमारा उत्तरायण देवताओं का दिन है और हमारा दक्षिणायन उनकी रात है क्योंकि स्मृतिग्रन्थों में और ज्योतिष शास्त्र की संहिता

(सूर्य सिद्धान्त १.१३; १२.३५,६७) में भी यही वर्णन मिलता है कि देवता मेरु पर्वत पर अर्थात उत्तरी ध्रुव में रहते हैं अर्थात दो अयनों का हमारा १ वर्ष देवताओं के एक दिन रात के बराबर और हमारे ३६० वर्ष देवताओं के ३६० दिन रात अथवा एक वर्ष के बराबर हैं।'

उपरोक्त व्याख्या के अनुसार चूंकि देवताओं का एक वर्ष मानवी ३६० वर्ष के बराबर माना गया है इसलिए १२०० × ३६० = ४३२००० वर्ष कलियुग की आयु निश्चित की गई।

विचारणीय प्रश्न

उपरोक्त वर्णन से मुख्य चार बातें स्पष्ट होती हैं—

१. मूल ग्रन्थों में कलियुग की आयु केवल १२०० वर्ष दी गयी है।
२. मूल ग्रन्थों में यह कहीं नहीं लिखा है कि ये वर्ष मनुष्यों के न होकर देवताओं के हैं।
३. देवताओं को उत्तरी ध्रुव का निवासी मानने के कारण ही उनके एक दिन को मानवी एक वर्ष होने की कल्पना की गई है।
४. मूल ग्रन्थों में वर्णित कलियुग की आयु में उलटफेर करने का एकमात्र कारण यह धारणा है कि महाभारत द्वापर के अन्त की घटना है और उसके तुरन्त बाद कलियुग प्रारम्भ हुआ। इसके स्थान पर यदि यह समझा गया होता कि यह घटना कलियुग के अन्त की है और उसके बाद सत्युग प्रारम्भ हुआ तो फिर ऐसा विरोधाभास उत्पन्न न होता जिसके कारण उलटफेर करना पड़ता। इस तरह कलियुग की आयु की गुत्थी सुलझाने के लिये हमें दो बातों का उत्तर ढूंढ़ना पड़ेगा :
   १. देवताओं का वर्ष और मनुष्यों का वर्ष एक है या भिन्न ?
   २. महाभारत की घटना द्वापर के अन्त की है अथवा कलियुग के अन्त में घटित घटना है जिसके बाद सत्युग प्रारम्भ हुआ ?

मनुष्य और देवताओं का वर्ष भिन्न नहीं

मनुष्य और देवताओं के वर्ष की भिन्नता का मूल कारण यह

मान्यता है कि देवतायें मेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) पर रहते हैं जहां निरन्तर ६ मास तक सूर्य का प्रकाश रहता है और उसके पश्चात निरन्तर ६ मास तक अन्धकार छाया रहता है। चूंकि वहां के प्रकाश और अन्धकार का चक्र हमारे एक वर्ष में पूरा होता हैं इसलिये देवताओं के १ दिन को हमारे १ वर्ष के बराबर मान लिया गया है।

इस बात पर विचार करते समय प्रथम प्रश्न यही होता है कि जब इस भारत भूमि को दैव भूमि अथवा देवताओं का निवास स्थान कहा जाता है तो फिर देवतागण उत्तरी ध्रुव पर कब और कैसे पहुंच गये ? यदि हम यह कहें कि वह किसी समय इस भारतभूमि पर निवास करते थे परन्तु बाद में उत्तरी ध्रुव में चले गये तो फिर क्या हम यह स्वीकार करेंगे कि जब वे भारतभूमि पर निवास करते थे तब उनका एक दिन २४ घण्टों का था और बाद में जब वे उत्तरी ध्रुव में चले गये तो उनका एक दिन ३६० × २४ घन्टे का हो गया। या हम यह कहें कि जिस समय वे भारत भूमि पर निवास करते थे उस समय इस देश में ६ मास प्रकाश व ६ मास अन्धकार छाया रहता था। यह भी प्रश्न उठता है कि उत्तरी ध्रुव में रहने वाले देवताओं का रूप क्या है ? वे वहाँ पर करते क्या हैं ? उनकी सामाजिक रचना कैसी है ? वे मनुष्यात्माओं से किस बात में भिन्न हैं ? वहाँ पर जाने वाले मनुष्यों को वे दिखाई क्यों नहीं देते ? यह सब अनुत्तरित प्रश्न यही संकेत करते हैं कि उत्तरी ध्रुव में देवताओं के निवास की बात भ्रममूलक है और उनके आधार पर उनके दिन और वर्ष का निर्धारण सही नहीं है। मनुष्य और देवताओं के दिन और वर्ष में को भिन्नता नहीं है बल्कि मनुष्य और देवताओं में कोई भिन्नता नहीं है।

मनुष्य और देवता भिन्न नहीं

वास्तव में बड़ी भूल तो यही है कि हमने देवताओं को मनुष्यों से भिन्न जीव मान लिया है। हमारे मन्दिरों में देवताओं की जो मूर्तियाँ स्थापित हैं उन पर यदि हम दृष्टि डालें अथवा धर्मग्रन्थों में वर्णित

उनके वेशभूषा और रहन-सहन का जो वर्णन है उस पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होगा कि देवताओं की शरीर-रचना भी मनुष्यों जैसी है और वे मनुष्यों की तरह वेशभूषा धारण करते और महलों में रहते थे। अन्तर है तो इतना कि वे दैवी गुणों से युक्त मनुष्य थे और आज का मनुष्य आसुरी लक्षणों वाला है। वे सर्वगुण सम्पन्न, सोलह कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकारी, आत्माभिमानी व मर्यादापुरुषोत्तम थे जबकि आज के मनुष्य पाँचों विकारों में लिप्त सम्पूर्ण विकारी, देहाभिमानी, अवगुणी और अमर्यादित हैं। जिस युग में ये देवता भारत-भूमि में निवास करते थे उसे सत्युग और त्रेतायुग कहा जाता है जिन युगों की इस पृथ्वी को स्वर्ग कहा जाता है। इसके बाद जब यही देवता देह अभिमानी हुए तो वाम मार्ग में गये, विकारी और अवगुणी बने तो मनुष्य कहलाये। उस समय को द्वापर और कलियुग की संज्ञा दी गई है। इन दो युगों की सृष्टि को नर्क कहेंगे। स्वर्ग और नर्क कोई दो अलग-अलग क्षेत्र नहीं हैं बल्कि मनुष्य समाज की ही दो अवस्थायें हैं। पूर्व में ऐसा समय था जब भारत-भूमि पर रहने वाली सभी मनुष्यात्माओं को देवता पद प्राप्त था और उनके धर्म को देवता धर्म कहा जाता था। फिर जब वही आत्मायें सतोगुण से रजोगुण और तमोगुण अवस्था में गिरीं। उनके अन्दर काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार विकार भरते गये तो उनकी पवित्रता समाप्त होती गई। अपवित्र संरकारों के कारण ही देवता मनुष्य पद पर आये और आज तो मनुष्य बिल्कुल असुरों जैसा व्यवहार कर रहा है। देवताओं, मनुष्यों और असुरों की शारीरिक संरचना में कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर केवल उनके स्वभाव, संस्कार व व्यवहार में है। इस दृष्टि से देखने पर देवताओं के उत्तरी ध्रुव में निवास करने की बात निर्मूल सिद्ध हो जाती है और ऐसे निर्मूल आधार पर आधारित काल गणना सही नहीं हो सकती। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि कलियुग की आयु १२०० वर्ष है।

कलियुग का प्रारम्भ

उपरोक्त विवेचन के आधार पर जब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते

हैं कि धर्मग्रन्थों में वर्णित कलियुग की आयु के १२०० वर्षों से मानवी वर्ष ही अभिप्रेत हैं तो फिर यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन लोगों की शंका का समाधान करें जो यह समझते हैं कि महाभारत घटना द्वापर युग के अन्त की है जिसे ५००० वर्ष हुए और उसके बाद ही कलियुग आरम्भ हुआ।

जब मैंने इस बात की खोज की कि ५००० वर्ष पूर्व कलियुग के प्रारम्भ होने की धारणा लोगों में आई कैसे तो मुझे मालूम हुआ कि गीता के भगवान ने किसी सन्दर्भ में यह कहा था कि इस समय पृथ्वी पर कलियुग का प्रभाव है। इस कलियुग शब्द का अर्थ 'कलियुग का अन्त' लिया जाय या 'कलियुग का प्रारम्भ' लिया जाय। यदि हम इसे 'कलियुग का अन्त' मानकर चलें तो सारी उलझी गुत्थियाँ सहज ही सुलझ जायं। वास्तविकता के निर्णय के लिये हम भगवान के महावाक्यों, उस समय की सामाजिक स्थिति और उसमें झलकती हुई उस समय के मनुष्यों की चारित्रिक अवस्था का विश्लेषण करेंगे।

गीता के भगवान के महावाक्य

गीता में भगवान के महावाक्य हैं कि जब पृथ्वी पर अधर्म बढ़ जाता है तो अधर्म के विनाश और सत्धर्म की स्थापना करने मैं आता हूँ। इस महावाक्य से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि इस कार्य हेतु जिस समय परमात्मा का अवतरण पृथ्वी पर होता है उस समय संसार में अधर्म इतनी पराकाष्ठा पर होता है कि उसे समाप्त करके सुधार लाना किसी गुरु, गोसाईं, साधु संत, विद्वान, आचार्य अथवा समाज सुधारक के वस की बात नहीं रहती और उस कार्य अर्थ स्वयं सर्वशक्तिमान परमात्मा को ही अवतरित होना पड़ता है। युग-चक्र के क्रमानुसार अधर्म की ऐसी पराकाष्ठा तो कलियुग के अन्त में ही हो सकती है। दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि परमात्मा अधर्म को इतने पूर्ण रूप से समाप्त करते हैं जिससे सत्धर्म की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सके। इतना ही नहीं, वह नये सत्धर्म की स्थापना भी स्वयं

करते हैं। उन्होंने वास्तव में अपने वचनानुसार सत्धर्म की स्थापना की। परमात्मा द्वारा स्थापित सत्धर्म तो अवश्य सत्युग ही लावेगा। इस प्रकार यदि परमपिता परमात्मा कलियुग के अन्त में आवें और कलियुग समाप्त कर सत्युग की स्थापना करें तभी कहा जावेगा कि उन्होंने अधर्म का विनाश कर सत्धर्म स्थापन किया। यदि प्रचलित मान्यता अनुसार भगवान को द्वापर के अन्त में अवतरित हुआ माना जावे तो क्या द्वापर युग का अन्त करके समाज को कलियुगी बनाने को अधर्म का विनाश और सत्धर्म की स्थापना कहेंगे ? कभी नहीं ! इससे यह स्पष्ट होता है कि महाभारत काल, जब भगवान अधर्म विनाश और सत्धर्म की स्थापना हेतु अवतरित हुए, कलियुग के अन्त का समय था प्रारम्भ का नहीं। उसके पश्चात सत्युग प्रारम्भ हुआ। ऐसा समझने पर युगों की आयु-गणना में जो भ्रम उत्पन्न हुआ है वह स्वतः ही दूर हो जावेगा।

महाभारत काल की सामाजिक स्थिति

महाभारत काल की सामाजिक स्थिति का यदि हम वर्तमान की सामाजिक स्थिति के साथ तुलना करें तो स्पष्ट हो जावेगा कि उस समय की सामाजिक स्थिति बिल्कुल ऐसी ही थी जैसी आज है। महाभारत ग्रन्थ को चाहे ऐतिहासिक सत्य माना जाय या सांकेतिक परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि यह ग्रन्थ उस समय के समाज का जीवन्त चित्र अवश्य प्रस्तुत करता है।

उस समय समाज में लोभ की मात्रा कितनी बढ़ी हुई थी और लोभवश मनुष्य कितना क्रूर हो सकता है इसका परिचय हमें आज के युग में भी इससे बड़ा क्या मिलेगा कि दुर्योधन ने अपने ही कुल के भाइयों को उनका राज्य भाग हड़पने के लिये लाक्षागृह में जीवित जला देनें का षडयन्त्र रचा। अमानुषिकता और निर्लज्जता का हमें आज के युग में इससे बड़ा प्रमाण क्या मिलेगा कि दुःशासन ने राजदरबार में अपने पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण के सन्मुख ही अपने भाई की विवाहिता पत्नी द्रौपदी को नग्न करने का प्रयत्न किया और बड़े-बूढ़े चुपचाप इस दृश्य को देखते रहे। पिता की आज्ञा की अवहेलना का प्रमाण

है कि धृतराष्ट्र के लाख कहने पर भी दुर्योधन ने इतने बड़े राज्य में से पाण्डवों को पाँच गाँव देना भी स्वीकार नहीं किया और फलस्वरूप महाभारत युद्ध में रक्त की नदियाँ बहीं। आज के समान ही उस समय भी काम विकार में मनुष्य की प्रवृत्ति कितनी बढ़ी हुई थी इसके ज्वलन्त प्रमाण रूप में राजा शान्तनु हैं जिन्होंने अपनी ही प्रजा में से एक निम्न कोटि के मल्लाह की लड़की पर मोहित होकर अपना विवेक इतना खो दिया कि उन्हें अपने पुत्र भीष्म को आजन्म दाम्पत्य जीवन से वंचित करने में हिचक नहीं हुई। युधिष्ठिर जैसे ज्ञानी और धर्मात्मा कहे जाने वाले महापुरुष का दुर्योधन द्वारा जुआ का निमन्त्रण स्वीकार करना, अपना सब धन-धान्य, राज्य-पाट और यहाँ तक कि अपनी विवाहिता पत्नी द्रौपदी को भी जुए में दाँव पर लगा देना और शकुनि द्वारा उस जुए में छल का प्रयोग करना क्या आज की सामाजिक अवस्था से समानता की ओर संकेत नहीं करता। युद्ध में भाई-भाई, गुरु-शिष्य और सगे-सम्बन्धियों ने जिस प्रकार एक दूसरे का वध किया। भीम ने जिस प्रकार दुर्योधन के वक्षस्थल से रक्त का पान किया वैसी क्रूरता और अमानुषिकता को आज की सामाजिक अवस्था से किसी प्रकार भिन्न नहीं कहा जा सकता। इन बातों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने पर यह बात बहुत स्पष्ट रीति से उभर कर सामने आती है कि महाभारत काल और आज की सामाजिक अवस्था ठीक एक सी है। इसलिये उस समय भी घोर कलियुग का ही समय था जिसका अन्त स्वयं परमात्मा ने कराया।

महाभारतकालीन युद्धास्त्र और वैज्ञानिक क्षमता

इसके अतिरिक्त यदि हम महाभारत युद्ध में प्रयुक्त युद्धास्त्रों और वैज्ञानिक उपलब्धियों की ओर ध्यान दें तो हमें वह आज के युग से मिलती-जुलती दिखाई पड़ेगी। आकाश मार्ग से अग्नि वर्षा और कृत्रिम जल वर्षा का वर्णन महाभारत में आता है। जिन आग्नेयास्त्रों के प्रयोग का संकेत मिलता है उनकी तुलना तो इस समय बमों से की जा

सकती है। वायु मार्ग से आवागमन तो आज के हवाई जहाज जैसी चीज से ही सम्भव है। १८ दिन की अल्पावधि में १८ अक्षौहिणी सेना का संहार तो किसी वैज्ञानिक युग में ही सम्भव है। यादवों ने अपने पेट से मूसल निकालकर अपने कुल का विनाश किया। आज के मिसाइल्स मानव वुद्धि से निकल मानव कुल का विनाश करने में पूर्ण समर्थ हैं। उस समय इस युग के टेलीवीजन जैसा यंत्र होने का भी संकेत मिलता है जिसमें देखकर वहुत दूर बैठे संजय ने धृतराष्ट्र को कौरवों-पाण्डवों के वीच चल रहे युद्ध का समाचार सुनाया होगा।

अब तो अनेकानेक भारतीय विद्वान व पाश्चात्य विद्वान पुराणों और वेदों के वर्णन के आधार पर यह मानने लगे हैं कि प्राचीन भारत में विज्ञान काफी ऊँचाई पर था। महाभारत विवाद के सन्दर्भ में अपने एक लेख में डाक्टर विमल चन्द्र पाण्डेय लिखते हैं कि 'ऋगवेद आयसी पुरों (लोहे के दुर्गों) का उल्लेख करता है। ऋगवैदिक अस्त्र-शस्त्रों में 'पुर चरिष्णु' विशेष उल्लेखनीय है। यह दुर्गों को गिराने वाली एक मशीन थी। तैत्तरीय संहिता में 'शतहनी' का वर्णन आता है जो एक विनाशकारी यंत्र था। प्राचीन भारतीय बज्र के विषय में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान विल्सन ने लिखा है कि वह किसी बारूद जैसे प्रेरक पदार्थ से चलता था। जैन ग्रन्थों में 'रथ मूसल' और 'महाशिला कंटक' नामक यंत्रों का उल्लेख आता है। प्रथम यंत्र एक द्रुतगामी रथ था जो शत्रु सेना में घूम-घूम कर महाविनाश उत्पन्न करता था। द्वितीय यंत्र पत्थरों की भारी वर्षा करता था। प्राचीन भारतीय साक्ष्य अनेकानेक अस्त्रों-शस्त्रों का विवरण देते हैं। यह भी संकेत मिलता है कि प्राचीन भारत में न्यूकलीय भौतिकी की भी जानकारी थी।'

धर्मयुग में प्रकाशित एक लेख में रमेश संझगिरी जी लिखते हैं कि 'कपिलायत सम्भवतः वही स्थान है जहां कपिल मुनि ने विकास के सांख्यमत की व्याख्या की और न्यूकलीय भौतिकी की पूरी जानकारी दिखाई। उन्होंने अपना यह मत डारविन से कोई २००० वर्ष और गेलीलियो तथा न्यूटन से २५०० वर्ष पूर्व प्रतिपादित किया।' बनी

देश पाण्डे जी द्वारा लिखित **Universe of Vedanta** में कहा गया है कि वर्तमान विज्ञान का बहुचर्चित आइन्सटीन का 'सापेक्षवाद' सिद्धान्त वेदान्त रचयिताओं को ज्ञात था। यह उल्लेखनीय है कि 'सापेक्षवाद' सिद्धान्त का ज्ञान होने पर ही अणु-विच्छेदन के वे अनुसंधान हो सके जिन्होंने अणु-बम को जन्म दिया। देशपाण्डे जी यह भी लिखते हैं कि वादरायण, पातंजलि व व्यास ने इन सिद्धान्तों को इसी तरह सिद्ध किया है जैसे आज आइन्सटीन व हीसनवर्ग ने किया। इसके अतिरिक्त हमारे पौराणिक ग्रन्थों में वायु, जल, अग्नि व वेग आदि देवताओं द्वारा असुरों के संहार का वर्णन आता है। इन वर्णनों को यदि हम आज की नवीनतम वैज्ञानिक खोजों से मिलायें तो उनकी सत्यता की पुष्टि होती है। अब प्रश्न है कि ऐसी भयानक युद्ध गाथा का वर्णन तो महाभारत के अतिरिक्त और किसी ऐतिहासिक युद्ध में आता नहीं। जब यह ज्ञान उपलब्ध था और युद्ध में उससे बने शस्त्रों का वर्णन है तो यह अनुमान करना ठीक होगा कि इनका प्रयोग महाभारत युद्ध में हुआ था।

उपरोक्त बातों के होते हुए भी यह बात निर्विवाद है कि वर्तमान वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति पिछले दो सौ वर्षों की और मुख्यतया बीसवीं सदी की देन है। यह भी निर्विवाद है कि ये सब हमारे सामने नये वैज्ञानिक खोज के कारण आईं। फिर प्रश्न उठता है कि प्राचीन वैज्ञानिक ज्ञान कब और कैसे लोप हो गया? इसके लिये यदि हम प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन के शब्दों की गहराई पर ध्यान दें और विश्व इतिहास के पुनरावर्तन सिद्धान्त को मान्यता दें तो बात स्पष्ट हो जावेगी। जब आइन्सटीन से किसी ने पूछा कि क्या वह बता सकते हैं कि तृतीय विश्व युद्ध का क्या स्वरूप होगा तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह मैं नहीं बता सकता परन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि चतुर्थ युद्ध लोग केवल ईंट-पत्थरों से लड़ेंगे। उनका भाव था कि तृतीय विश्वयुद्ध इतना विनाशकारी होगा कि उसके पश्चात सारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ समाप्त हो जायेंगी और मनुष्य पत्थर युग को लौट जावेगा।

पिछले महाभारत की परिस्थितियों की यदि हम वर्तमान परिस्थि-

तियों से तुलना करके देखें तो स्पष्ट होगा कि पिछला महाभारत युद्ध ऐसे ही महाविनाशकारी युद्धास्त्रों से लड़ा गया था जिन्होंने तत्कालीन मानव समाज पर प्रलय जैसा प्रहार किया। आसुरी कलियुगी असभ्यता सम्पूर्णतया नष्ट हो गई। जनसंख्या बिल्कुल घट गई। जो थोड़े से लोग बचे वे पवित्रता, निर्विकारिता और आत्माभिमानी सुख शांतिमय सादा जीवन व्यतीत करने लगे। उस समाज के समय को सत्युगी दैवी समाज कहा गया। उनको वैज्ञानिक आयुधों की आवश्यकता भी न रही इसलिये वह लोप हो गया। कालान्तर में जब ग्रन्थों की रचना हुई तो उसमें महाभारत काल के अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन तो आया परन्तु वे अस्त्र-शस्त्र नहीं थे। इसीलिये हड़प्पा मोहनजोदड़ो आदि की खुदाइयों में ऐसा कुछ नहीं मिलता। परन्तु विश्व का इतिहास पुनरावृत्त होकर पुनः उसी महाभारत काल वाली अवस्था पर आ पहुँचा है।

सत्युग, त्रेता, द्वापर तथ ाकलियुग के चार युगों का चक्र अथवा वृत्ताकार पुनरावर्त्तन तो भारतीय दर्शन का अभिन्न अंग है ही, उसी को यदि हम और सूक्ष्म रीति से समझने का प्रयत्नो करें तो यह निष्कर्ष निकल सकता है कि विश्व का सम्पूर्ण इतिहास इन चार युगों के चक्र में वृत्ताकार रूप से पुनरावर्तित होता रहता है। पुनरावर्त्तन सिद्धान्त से यदि इतिहासकार भारतीय इतिहास की व्याख्या करें तो शायद बहुत-सी उलझी गुत्थियाँ सुलझ सकें और मानव इतिहास का एक नया स्वरूप सामने आवे। गीता महाभारत की ऐतिहासिकता और उसका सच्चा स्वरूप भी इस पद्धति से सहज समझा जा सकेगा।

महाभारत के बाद का सत्युग और त्रेतायुग

यदि हम महाभारत काल अर्थात ३१०० ई० पू० से अशोक के पहले के समय तक के इतिहास को देखें जिसे पूर्व वैदिक काल और वैदिक काल कहते हैं तो मालूम पड़ेगा कि कि उस अवधि में कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ। समाज में सुख और शांति थी। राजा और प्रजा सभी धर्मानुकूल आचरण करते थे। चोरी-डकैती का नाम-निशान न था। घरों

में ताले नहीं लगाते थे, अतिथियों का बहुत आदर-सत्कार होता था, राजा अपनी प्रजा के सुख का पूरा ध्यान रखता था तथा सभी धर्मानुकूल आचरण करते थे।

यदि आप मेगेस्थनीज के समय के भारत की सामाजिक व्यवस्था और उनमें झलकती हुई मनुष्यात्माओं के मानसिक संस्कारों की तुलना महाभारत काल की सामाजिक और मानसिक अवस्था से करें, तो यह सहज समझ में आ जावेगा कि महाभारत काल में जो राग, द्वेष, ठगी, बेईमानी, निर्लज्जता और निर्दयता थी उसका एक अंश मात्र अगले २५०० वर्षों में न था। इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत की घटना अवश्य ही कलियुग के अन्त में घटित हुई। उसके पश्चात सत्धर्म अथवा सत्युग की स्थापना हुई जो अगले २५०० वर्षों तक सत्युग त्रेता दो युगों में चलता रहा। यद्यपि सत्युग त्रेतायुग की आयु प्रचलित मान्यता अनुसार कलियुग की आयु की तिगुनी व चौगुनी हैं। परन्तु यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत के समय से लेकर आज तक के ५००० वर्षों में मानव समाज पुनः उसी अवस्था को आ पहुँचा है तो हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि चार युगों का चक्र केवल ५००० वर्षों में ही पूरा हो जाता है। फिर प्रत्येक युग की आयु १२५० वर्ष से अधिक नहीं आती। जैसी कलियुग की आयु गणना में कुछ भूल थी जो ऊपर दर्शाया गया वैसे ही सत्युग, त्रेता युग की आयु गणना में भी भूल मालूम पड़ती है जिसकी जाँच करनी होगी। युगों की आयु की विस्तृत व्याख्या के लिए हमारे यहाँ की प्रकाशित पुस्तक 'विश्व का भविष्य' पढ़ें।

द्वापर व कलियुग

उपरोक्त समय के पश्चात द्वापर युग का प्रारम्भ हुआ। सिकन्दर का भारतवर्ष पर आक्रमण और कलिंग की बड़ी लड़ाई हुई। धीरे-धीरे हालत गिरती ही गई। इस युग के १२५० वर्ष पूरे होते-होते समाज में चोरी, डकैती, ठगी चलने लगी थी जिसका पता चीनी विद्वान ह्वेनसाँग

के वर्णनों में मिलता है जो उस समय भारतवर्ष में आया था। इसी समय मुसलमानों व विजातियों का पदार्पण भारत में हुआ जिसे हम कलियुग का प्रारम्भ काल कहेंगे। उसके बाद तो भारत विदेशियों की दासता में जकड़ता ही गया। इसकी हालत गिरती ही गई। वास्तव में मुसलमानों के आक्रमण के समय ही भारतवासियों का आपसी द्वेष और आपसी फूट उभर कर सामने आया। उसके बाद तो इस प्रकार के फूट और कलह-क्लेश के दृष्टान्त अनेक मिलने लगे। स्त्री जाति को विलासिता का साधन समझना इस काल से ही प्रारम्भ हुआ। उसके लिये रक्त भी बहने लगे। संयोगिता और पद्मिनी की कहानी इसके सबूत हैं। उसके बाद से तो समाज का चारित्रिक स्तर और शांति व्यवस्था तेजी से गिरती गई और उसकी चरम सीमा हम सबके सामने है।

महाभारत प्रकरण की पुनरावृत्ति

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि न केवल महाभारत काल में समाज और विज्ञान की ऐसी ही हालत थी जैसी कि आज बल्कि उसके बाद का सामाजिक इतिहास भी इस रीति से चला है जिसे हम क्रमशः सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के अनुरूप कह सकते हैं, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत काण्ड को पिछले कलियुग के अन्त की घटना न समझने के कारण अन्य बातों के अतिरिक्त युगों की आयु गणना की गुत्थी भी उलझ गई। आज के मनुष्य अभी कलियुग को बच्चा समझ बैठे हैं और इस कारण वे न भावी प्रलय स्वरूपी महा-विनाश के प्रति ही सचेत हैं न उसके बाद आने वाले सत्युगी सृष्टि के लिये पुरुषार्थ कर रहे हैं। समझने की बात है कि महाभारत प्रकरण की पुनरावृत्ति वर्तमान समय में हो रही है। गीता वर्णित ज्ञान भी भगवान दे रहे हैं और हिंसक युद्ध के लिये भी विश्व तैयार खड़ा है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जायगी।

अध्याय २

गीता प्रकरण का यथार्थ स्वरूप

महाभारत के यथार्थ स्वरूप और उसकी ऐतिहासिकता को निश्चित करने के लिये गीता प्रकरण के वास्तविक स्वरूप, समय व स्थान को निश्चय करना अति आवश्यक है। कौरव-पाण्डवों के बीच लड़ा गया महाभारत युद्ध और गीता वर्णित कृष्ण अर्जुन संवाद एक ही समय की कुरुक्षेत्र के मैदान की घटना पौराणिकों ने बताई है और साधारण जनता स्वीकार करती आई है। परन्तु विद्वानों ने जहाँ यह शंका की है कि इतना भयानक संहारकारी युद्ध कुरुक्षेत्र के सीमित क्षेत्र पर होना सम्भव नहीं प्रतीत होता वहीं यह भी सन्देह व्यक्त किया है कि जब दो विरोधी सेनायें परस्पर एक दूसरे का संहार करने के लिये आमने-सामने खड़ी हों और दोनों ओर के सेनापतियों द्वारा युद्ध प्रारम्भ करने का बिगुल बजा दिया गया हो उसके पश्चात रणक्षेत्र में १८ अध्याय का गीता वर्णित श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद चलता रहा हो। यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि इतने समय तक कौरव सेना शांत रूप से इस बात की प्रतीक्षा करती रहे कि कब हतोत्साहित अर्जुन में श्रीकृष्ण नया उत्साह भर कर पूरा करें, अर्जुन कौरव सेना का संहार प्रारम्भ करें और तब वह अपनी ओर से जवाबी तीर चलायें। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस युद्ध में छल, कपट और निहत्थों पर प्रहार जैसे अधार्मिक कार्य प्रचुर मात्रा में अपनाये गये थे। किसी भी पक्ष द्वारा धर्मानुकूल आचरण किया गया हो, ऐसा संकेत नहीं मिलता। युद्ध के मध्य पृथ्वी की दलदल में फँसे पहिये को निकालते समय अर्जुन द्वारा कर्ण पर बाण वर्षा, शिखण्डी को सामने रखकर भीष्म पर बाण वर्षा, असत्य वचन द्वारा द्रोणाचार्य को क्षुभित कर उनकी हत्या आदि

घटनायें पाण्डवों की मनोवृत्ति का परिचय देती हैं तो अभिमन्यु-वध कौरवों की आचार संहिता का स्पष्ट परिचय देता है। इन घटनाओं का संकेत तो कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल पर हुए श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद की सम्भावना के सर्वथा विपरीत है। तो प्रश्न है कि यदि यह ज्ञान दिया गया तो किस स्थान पर दिया गया ?

दूसरी शंका यह भी उठाई जाती है कि परमपिता परमात्मा ने तो गीता में कहा है कि जब पृथ्वी पर अधर्म बढ़ जाता है तो अधर्म के विनाश और सत्धर्म की स्थापना हेतु मैं आता हूँ। तो क्या उन्होंने कौरव-पाण्डवों का हिंसक युद्ध कराकर इतने मनुष्य प्राणियों का बध कराकर सत्धर्म की स्थापना की ? क्या हिंसा के माध्यम से सत्धर्म की स्थापना हो सकती है ? यदि सत्धर्म की स्थापना का यही तरीका है तो यह कार्य तो एटम बम्ब के निर्माता भी कर सकते हैं। इसके लिये परमात्मा के अवतरण की आवश्यकता नहीं है। यदि इस हिंसक युद्ध द्वारा उन्होंने यह कार्य नहीं किया तो फिर उन्होंने जो दूसरा कार्य किया अर्थात गीता वर्णित ज्ञान दिया उसके द्वारा ही धर्म-स्थापना का कार्य सम्पन्न किया होगा। यही उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि अज्ञान ही अधर्म का कारण है और ज्ञान द्वारा ही उसका निवारण होता है। संसार में सत्धर्म की स्थापना आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार द्वारा ही हो सकती है। परन्तु क्या एक अर्जुन को ज्ञान देने से संसार में सत्धर्म की स्थापना हो जायगी ? यह भी तो कहीं नहीं कहा गया है कि अर्जुन ने फिर इस ज्ञान को संसार में फैलाया, अज्ञान अन्धकार को दूर कर ज्ञान प्रकाश से जगत को प्रकाशित किया। फिर प्रश्न उठता है कि परमात्मा ने इस ज्ञान द्वारा सत्धर्म की स्थापना कैसे की ? क्या उसका स्वरूप श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद ही था या कोई और रूप ?

इसी से सम्बन्धित एक तीसरी शंका यह है कि क्या यह ज्ञान श्रीकृष्ण ने दिया ? श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार गीता ज्ञान के दाता स्वयं परमपिता परमात्मा हैं। उसमें विभिन्न स्थानों पर 'श्री भगवानुवाच' शब्द का प्रयोग किया गया है। परमात्मा का गुण और कर्त्तव्य

सुनाते समय प्रथम पुरुष में 'मैं' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि स्वयं परमात्मा ने अपना परिचय दिया है। विराट रूप का साक्षात्कार कराते समय भी यही कहा कि तू मेरे इस रूप को देख। वह रूप एक महान तेजोमय ज्योति का था और परमात्मा को प्रकाश या ज्योति ही माना गया है। परमात्मा के गुण और कर्त्तव्य भी गीता में वर्णित हैं। यद्यपि समयान्तर से उसमें कुछ फेर-बदल भी हो गया है फिर भी उसका बहुत कुछ रूप सामने आ ही जाता है। अब परमात्मा के इस रूप गुण की व्याख्या के सन्दर्भ में यह देखें कि क्या वे बातें श्रीकृष्ण के रूप-गुण से मेल खाती हैं? यदि नहीं तो फिर निर्णय करें कि परमात्मा ने यह ज्ञान कैसे सुनाया?

गीता में वर्णित महावाक्यों के अनुसार परमात्मा सर्वज्ञ हैं, सर्व आत्माओं के पिता हैं, जन्म-मरण से न्यारे हैं, दिव्य दृष्टि दाता हैं। मनुष्य सृष्टि के बीज रूप हैं। सर्व आत्माओं के मुक्ति एवं जीवन मुक्ति दाता पतितपावन हैं, सूर्य तथा चाँद व तारागणों के प्रकाश से भी परे परमधाम के निवासी हैं। विष्णु शंकर त्रिदेवों के भी रचता होने के कारण त्रिमूर्त्ति अथवा त्रिपुंडधारी कहलाते हैं? वह निराकार ज्योति-बिन्दु है। उसे सर्व मनुष्य आत्मायें अपना पारलौकिक परमपिता कह कर पुकारती हैं। त्रिनेत्री, त्रिकालदर्शी और त्रिलोकीनाथ के रूप से उसका गायन है। उसको प्रेम का सागर, आनन्द का सागर, शांति का सागर, ज्ञान का सागर तथा सर्वशक्तिमान कहा जाता है। भारतवासी उसे माता, पिता, बन्धु, सखा व सर्व सम्बन्धों से याद करते हुए बहुरूपी कहते हैं। अन्य धर्मावलम्बी उसे आसमानी बाप कहते हैं। गीता में ही भगवान ने कहा है कि मैं इस जगत प्राणियों का माता-पिता व बीज रूप हूँ। परमात्मा सर्व आत्माओं के सद्‌शिक्षक व सद्‌गुरु हैं। इनका कोई पिता, शिक्षक व गुरु नहीं है।

उपरोक्त गुणों की तुलना में हम देखें कि भक्तजन श्रीकृष्ण की क्या महिमा करते हैं? श्रीकृष्ण को सर्वगुण सम्पन्न, सोलह कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकारी मर्यादा पुरुषोत्तम सर्वश्रेष्ठ देवता कहा जाता

है। उन्हें बैकुण्ठ नाथ कहा जाता है। उन्होंने माता के गर्भ से जन्म लिया, माता की पालना ली, शिक्षक से शिक्षा पाई, जीवन की लीलायें करने के पश्चात उनकी इहलीला समाप्त हुई और उनकी मृत्यु हुई। श्रीकृष्ण ने अवतार नहीं बल्कि लौकिक जन्म लिया। श्रीकृष्ण रचता नहीं बल्कि रचना थे।

इस प्रकार तुलना करने पर यही स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण को परमात्मा नहीं कहा जा सकता। माता के गर्भ से जन्म लेने के कारण उन्हें अवतार भी नहीं कह सकते हैं। श्रीकृष्ण के अन्य गुण भी परमात्मा जैसे नहीं हैं। तो फिर प्रश्न यह है कि परमात्मा कौन है? निराकार परमात्मा ने किस साकार स्वरूप का आश्रम लिया, उसे किस रीति से अपनाया और उन्होंने किस प्रकार गीता वर्णित ज्ञान दिया? इस एक प्रश्न का समुचित उत्तर निकल आने पर अन्य अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर सहज निकल आवेगा। इसलिये हम सर्वप्रथम इसी प्रश्न को लेते हैं।

परमात्मा का परिचय

परमात्मा के अवतरण के सन्दर्भ में जब परमात्मा की चर्चा होती है तो इतनी बात तो निर्विवाद है कि परमात्मा का कोई दिव्य रूप तथा दिव्य धाम है जहाँ से वे इस संसार में उतरते हैं और किसी मनुष्य तन में व्यक्त होते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये गीता में भगवान के महावाक्य हैं कि 'मैं अव्यक्तमूर्त हूँ' अर्थात मेरा रूप तो है परन्तु दैहिक (व्यक्त) रूप नहीं है। भगवान ने यह भी कहा है कि 'इस आकाश तत्व के पार एक अव्यक्त तत्व है वह मेरा परमधाम है।' अपने जन्म और कर्म के बताते हुए भगवान ने कहा कि 'मेरा जन्म और मेरा कर्म दिव्य है। मैं साधारण मनुष्यों की तरह जन्म नहीं लेता बल्कि प्रकृति को वश करके साकार होता हूँ।' इससे यह स्पष्ट है कि माता के गर्भ से जन्म लेने वाले भगवान का अवतार नहीं हो सकते। भगवान इन सब से न्यारे हैं। वह सृष्टि-वृक्ष के अविनाशी बीज रूप हैं और

सृष्टि चक्र के साक्षी हैं। वे केवल धर्मग्लानि के समय ही इस मानव जगत में अपने परमधाम से अवतरित होते हैं। अब जानना यह है कि वह किस प्रकार अवतरित होते हैं। परन्तु उसके पहले उनके स्वरूप की जानकारी लाभप्रद होगी।

भगवान का स्वरूप

परमात्मा (परम + आत्मा) को जानने के पहले यह जानने की आवश्यकता है कि 'आत्मा' का दिव्य रूप क्या है? यह तो सर्व ज्ञात है कि आत्मा इस पंच भौतिक देह से भिन्न एक चेतन अविनाशी ज्योति है। यह ज्योति बिन्दु रूप है। अति सूक्ष्म है। मानव देह में भृकुटी में निवास करती है जहाँ पर भारत में भक्त लोग तिलक लगाते हैं।

जैसे आत्मा एक ज्योति बिन्दु अथवा ज्योति-कण है वैसे ही परमात्मा भी एक ज्योति बिन्दु ही हैं परन्तु वह ज्ञान, पवित्रता, शक्ति, शान्ति तथा आनन्द की दृष्टि से परम हैं। जैसे किसी को 'महात्मा' कहने से उस आत्मा की लम्बाई चौड़ाई का बड़ा होना सिद्ध नहीं होता बल्कि गुणों की दृष्टि से महान होना सिद्ध होता है, वैसे ही 'परमात्मा' शब्द ज्ञान, शक्ति आदि की पराकाष्ठा का द्योतक है न कि किसी सर्वव्यापक सत्ता का। भगवान ज्योति बिन्दु स्वरूप वाले हैं। बिन्दु के न कोई कोण होता है न रेखायें तब भला उसको आकारी कैसे कहेंगे। इसीलिये परमात्मा को 'निराकार' कहा गया है।

परमात्मा का नाम 'शिव'

भगवान सदा विश्व का कल्याण सोचते हैं, कल्याण करते हैं और स्वयं कल्याण स्वरूप हैं इसलिये उनका दिव्य नाम 'शिव' है। उन्हें ही 'अमरनाथ' कहते हैं क्योंकि वह अमर आत्माओं के नाथ हैं। स्मरण

रहे कि 'शिव' और 'शंकर' अलग-अलग हैं। शिव का स्मरण चिन्ह शिवलिंग है जबकि शंकर की मूर्ति देहाकार होती है। शिव की 'ज्योर्लिंगम' प्रतिमा सभी धर्मों के लोगों के यहां किसी न किसी नाम से परमात्मा रूप से प्रसिद्ध अवश्य है।

परमात्मा के अवतरण की अनोखी रीति

परमात्मा को 'अजन्मा' कहने का भाव यह है कि वह शरीर में जो प्रवेश या अवतार लेते हैं वह अन्य आत्माओं के शारीरिक जन्म से बिल्कुल 'न्यारा' होता है। उनका जन्म ऐसी अनोखी रीति से होता है कि उन्हें न तो नस-नाड़ी के बन्धन में आना पड़ता है और न वह बाल्य, युवा व वृद्ध अवस्थाओं में आते हैं। मनुष्यों की तरह न उन्हें कोई घाव-चोट लगती है न उनका देहान्त होता है। उन्हें न किसी माता-पिता से लालन-पालन लेना पड़ता है न ही उनके कोई शारीरिक पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्र आदि सम्बन्धी होते हैं।

इसी प्रकार परमात्मा के 'अशरीरी' या 'अकाय' रूप का न यह अर्थ है कि वह काया नहीं लेते और न ही यह अर्थ है कि वह 'माता के गर्भ से कोई शरीर तो लेते हैं परन्तु उस शरीर द्वारा कोई पाप या पुण्य नहीं करते।' 'अकाय' शब्द का अर्थ है कि परमात्मा की अपनी कोई काया नहीं है। मनुष्य प्राणी तो अपने पूर्व कर्मों तथा संस्कारों के आधार पर कोई न कोई काया लेते हैं। परमात्मा इस प्रकार अपनी काया नहीं लेते। वह ऐसी अनोखी रीति से काया लेते हैं कि काया में होते भी वह अकाय रहते हैं।

परमात्मा सदा मुक्त हैं। वह मनुष्यात्माओं की तरह देह या कर्मों के बन्धन में नहीं आते। परमात्मा तो अन्य आत्माओं को भी मुक्त करने वाले हैं। यदि वह स्वयं देह के बन्धन में आ जायें तब तो उन्हें भी बन्धन से मुक्त करने वाला कोई चाहिये। अतः उनका देह धारण करना किसी कर्म बन्धन के कारण नहीं होता और वह देह में आकर भी मुक्त रहते हैं।

उपरोक्त सभी बातों को सत्य सिद्ध करने वाला जो तरीका परमात्मा के अलौकिक एवं दिव्य जन्म का है उसे 'परकाया प्रवेश' कहा जाता है। परमपिता परमात्मा अपने परमधाम अथवा ब्रह्मलोक से अवतरित होकर एक साधारण वृद्ध मनुष्य तन में प्रवेश करते हैं। अपने प्रवेश के पश्चात वह उस मनुष्य को 'प्रजापिता ब्रह्मा' का नाम देते हैं। उसके तन में अवतरित होकर वह मनुष्य मात्र को पिता, शिक्षक एवं सदगुरु रूप से प्रेम और ज्ञान तथा स्नेह और सहायता देते हैं और उन्हें पतित से पावन तथा भोगी से योगी बनाते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य को पतित से पावन बनाने के लिये ज्ञान देने की आवश्यकता है और यह कार्य अन्य किसी विधि से नहीं हो सकता। न कोई अन्य अमानुषी रूप धारण करने से हो सकता है। अतः प्रजापिता ब्रह्मा के मानुषी रूप में ही परमात्मा जगतपिता तथा जगतगुरु के नाम से विख्यात हैं।

जिस शरीर को परमपिता परमात्मा पर काया प्रवेश विधि से अपनाते हैं वह शरीर उस मनुष्य ने अपने ही कर्मों और संस्कारों के आधार पर लिया होता है। वह ही उस द्वारा कर्म करता और फल भोगता है। वह ही उसके नस-नाड़ी या श्वास-प्रश्वास के बन्धन में होता है। उसने तो वह शरीर माता के गर्भ से लिया और अपने माता-पिता से लालन-पालन भी पाया। वह आत्मा मुक्त या कर्मातीत भी नहीं होती। उसके अपने लौकिक मित्र-सम्बन्धी आदि भी होते हैं। परन्तु जब उस शरीर में परमपिता परमात्मा दिव्य प्रवेश करते हैं तो मानो वह कुछ समय के लिये उस काया को उधार लेते हैं अथवा विश्व कल्याण के लिए उसका प्रयोग करते हैं। वह सारा दिन अथवा निरन्तर कुछ वर्ष उसमें प्रविष्ट हुए ही नहीं रहते बल्कि समय प्रति-समय उसमें प्रवेश करके उसके मुख के माध्यम से ईश्वरीय ज्ञान तथा सहज राज योग की शिक्षा देते हैं और पुनः अपने परमधाम वापस चले जाते हैं। इस प्रकार पिता परमात्मा धर्म स्थापना अर्थ उस तन में आते-जाते रहते हैं।

उस मनुष्य की आत्मा तो उस शरीर में अपने जीवन काल पर्यन्त रहती ही है परन्तु उसके तन में 'परमपिता परमात्मा' नाम वाली आत्मा भी सन्निवेश करती है अर्थात साथ ही बैठती है, मानो एक शरीर रूपी रथ में मनुष्यात्मा (ब्रह्मा की आत्मा) और परमपिता परमात्मा (गीता ज्ञान दाता) दोनों सवार होते हैं। शरीर रूपी रथ में ब्रह्मा की आत्मा के साथ-साथ उनके शरीर रूपी रथ पर परमात्मा के सवार होने के कारण परमात्मा को सा+रथी या सारथी (साथ का रथी) कहा गया है। उन्होंने किसी घोड़े के रथ को हाँकने का कार्य नहीं किया है।

इस प्रकार गीता ज्ञान दाता भगवान ने अजन्मा होते हुए भी 'परकाया प्रवेश' विधि से दिव्य जन्म अथवा अवतार लिया, और उन्होंने मनुष्य मात्र के काल्याण अर्थ उनका अज्ञान अन्धकार दूर करने अर्थ धर्मग्लानि के समय ईश्वरीय ज्ञान सुनाया। इस दृष्टिकोण से हम श्रीराम और श्रीकृष्ण को देवता की श्रेणी में रक्खेंगे। हम उन्हें अवतार नहीं कह सकते। हम प्रजापिता ब्रह्मा को भी अवतार नहीं कह सकते बल्कि ब्रह्मा के तन में जिस परमपिता परमात्मा ज्योति बिन्दु शिव का सन्निवेश होता है उसे ही अवतरित हुआ कहेंगे। ब्रह्मा तो उनका रथ मात्र है।

परमात्मा का रथ 'ब्रह्मा' कैसे ?

ब्रह्मा को आदिदेव कहा जाता है और यह माना जाता है कि मनुष्य सृष्टि की आदि ब्रह्मा से हुई है। ईसाई और मुसलमान भी उसे ऐडम या आदम के नाम से सृष्टि का प्रथम पुरुष मानते हैं। इस प्रकार सभी यह मानते हैं कि ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की स्थापना हुई। भारतीय दर्शन की मान्यता अनुसार ब्रह्मा-विष्णु-शंकर त्रिदेवों में से स्थापना के कार्य का निमित्त ब्रह्मा को ही माना गया है। अब स्थापना का एक अर्थ तो स्थूल जगत का निर्माण हो सकता है और दूसरे अर्थ में इसका प्रयोग एक सुसंस्कृत और सुगठित समाज रचना के लिये किया जा

सकता है। जहाँ तक स्थूल जगत के निर्माण का प्रश्न है वह तो सर्व मान्यता अनुसार अनादि है न वैज्ञानिक और न दार्शनिक ही स्वीकार करेंगे कि स्थूल जगत निर्माण सृष्टि के प्रथम पुरुष ब्रह्मा, ऐडम या आदम ने किया। तो फिर बात दूसरे प्रकार के स्थापना की ही रह जाती है। इस स्थापना में मनुष्यों में शुद्ध संस्कारों को जन्म देने की बात है। शुद्ध संस्कारों का जन्म ज्ञान द्वारा होता है। इसलिये कहा गया है ब्रह्मा ने यज्ञ रचा। यह बात ज्ञान यज्ञ की है। इस यज्ञ में संस्कारों को पवित्र करने की क्रिया को यज्ञोपवीत संस्कार कहा जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा ब्राह्मणों को पवित्र किया जाता है। ये ब्राह्मण ब्रह्मा मुख वंशावली कहे जाते हैं। अब मुख से किसी स्थूल मनुष्य के जन्म लेने की तो बात नहीं है। मुख से तो वाणी निकलेगी उस वाणी में ज्ञान होगा। जिस ज्ञान को सुनकर शूद्र बुद्धि मनुष्य श्रेष्ठ ब्राह्मण बुद्धि बनता है। यह ज्ञान ब्रह्मा के पास कहाँ से आया? यह ज्ञान ब्रह्मा के मुख का आधार लेकर स्वयं परमपिता परमात्मा ही सुनाते हैं। इस सुनाने से ही सत्धर्म की स्थापना होती है जिसकी चर्चा गीता में है। सत्धर्म द्वारा सत्युग का प्रारम्भ होता है। सत्युग को कल्प का आदि माना गया है। इसी को सृष्टि का आदि भी कहा गया है। वास्तव में शब्द है नवीन सृष्टि की आदि। नवीन सृष्टि इसीलिये कहा जाता है कि इसके पूर्व की घोर कलियुगी तमोगुणी सृष्टि का इसके पहले विनाश हो चुका होता है। अधर्मी मनुष्य अपनी ही तमोगुणी बुद्धि से निकाले हुए अस्त्र-शस्त्रों द्वारा मनुष्य कुल का विनाश करते हैं। और परमपिता परमात्मा ब्रह्मा मुख द्वारा ज्ञान सुनाकर अधर्म का विनाश व सत्धर्म की स्थापना करते हैं। ध्यान देने योग्य बात है कि मनुष्य शरीरधारी होते हुए भी ब्रह्मा का जन्म या उनके माता-पिता का उल्लेख कहीं नहीं आता। इसका कारण यह है कि ब्रह्मा नाम तो परमात्मा के उस तन में प्रवेशता के पश्चात है इसीलिये गीता में अर्जुन ने कहा कि 'हे महात्मन्! तुम ब्रह्मादेव के भी आदि कारण और उनसे भी श्रेष्ठ हो।' उस मनुष्य तन धारी को ब्रह्मा पद प्राप्त कराने का

कारण परमात्मा की प्रवेशता है न कि माता के गर्भ से जन्म । यह सभी बातें इस बात की पुष्टि करती हैं कि परमपिता परमात्मा ने सत्धर्म की स्थापना हेतु ब्रह्मा तन का ही आधार लिया । जहां तक श्रीकृष्ण का प्रश्न है वह तो सर्वगुण सम्पन्न, सोलह कला सम्पूर्ण, निर्विकारी, मर्यादा-पुरुषोत्तम सत्युगी दैवी सृष्टि अथवा बैकुण्ठ के प्रथम राज कुमार थे इसलिये उन्हें बैकुंठ नाथ कहा गया है । ब्रह्मा द्वारा स्थापित दैवी सृष्टि के प्रथम राजकुमार होने के कारण उन्हें पीपल के पत्ते पर अथाह जल सागर से अकेले तैरता दिखाते हैं ।

सर्वगुण सम्पन्न सोलह कला सम्पूर्ण सम्पूर्ण निर्विकारी मर्यादापुरुषोत्तम सत्युग के प्रथम महाराजकुमार श्रीकृष्ण

परमात्मा का कार्य-क्षेत्र और विधि

परमात्मा का अवतरण किसी एक अर्जुन अथवा दस-बीस व्यक्तियों को ज्ञान देने के लिये नहीं होता बल्कि संसार को पवित्रता और सदाचार का पाठ पढ़ाकर मनुष्यमात्र के जीवन को एक नया मोड़ देने के लिये होता है । मनुष्य ही इस संसार का मुख्य प्राणी है । मनुष्य के बिगड़ने से सारी सृष्टि बिगड़ जाती है और यदि मनुष्य सम्प्रदाय दिव्य गुण सम्पन्न हो जाय तो सृष्टि स्वर्ग हो जाती है । अतः इस संसार में सुख-दुख का होना मनुष्य के कर्मों पर आधारित है । मनुष्य के कर्म उसकी मानसिक वृति के आधार पर चलते हैं । मानसिक वृत्तियों का नियन्त्रण बुद्धि द्वारा होता है । अतः यदि मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाय, ईश्वर से विमुख हो जाय, सदाचार और पवित्रता से हट जाय तो इस सृष्टि में घोर पापाचार, अत्याचार, दुख और अशान्ति हो जाती है । इसीलिये दुःख और अशान्ति से छुड़ाने के लिये परमात्मा शिव

मनुष्य की बुद्धि को ज्ञान का अंकुश देते हैं। वह मनुष्य बुद्धि को विषय-वासनाओं से हटाकर आत्म स्मृति तथा ईश्वरीय स्मृति में स्थित कराते हैं। इस स्मृति के लिये वह मनुष्यों को आत्मा, परमात्मा और सृष्टि चक्र का ज्ञान सुनाते व राजयोग सिखलाते हैं। इसके लिये वह ज्ञान यज्ञ रचते हैं अथवा ईश्वरीय विश्वविद्यालय स्थापित करते हैं।

इस विश्वविद्यालय में प्रजापिता ब्रह्मा मुख द्वारा जो मनुष्यात्मायें परम-पिता परमात्मा का ज्ञान लेती हैं, पूर्ण पवित्रता धारण करती हैं और सत्वर्म की स्थापना में परमात्मा शिव के सहायक रूप में अपनी सेवा अर्पित करती हैं वह ब्रह्मा मुख-वंशावली ब्राह्मण और ब्राह्मणियाँ कहलाते हैं। इन ब्राह्मणियों को शिव शक्तियाँ भी कहा जाता है। जो ज्ञान इन्हें ब्रह्मामुख द्वारा मिलता है उसे फिर यह सारे संसार में फैलाकर अन्य मनुष्यात्माओं को देते हैं। इस प्रकार संसार की मनुष्यात्मायें असुर से देवता बनते हैं। तमोप्रधान से सतोप्रधान, दुखी से सुखी व अशांत से शांत हो जाते हैं। यह सृष्टि कलियुगी नर्क से सत्युगी स्वर्ग बनती है। इसे ही परमात्मा द्वारा सत्वर्म की स्थापना कहा जाता है। स्थापना का यह कार्य कोई एक अर्जुन को ज्ञान देने से पूरा नहीं होता बल्कि इसके लिये विश्वव्यापी आध्यात्मिक क्रांति की आवश्यकता होती है और भगवान ने इसी क्रांति द्वारा अपना कार्य सम्पन्न किया।

युद्ध क्षेत्र

महाभारत में यह वर्णन आता है कि भगवान ने गीता ज्ञान युद्ध के मैदान में सुनाया था। ऊपर हम बता आये हैं कि भगवान ने यह ज्ञान कोई एक अर्जुन को नहीं दिया बल्कि उनका सन्देश तत्कालीन समस्त मानव प्राणियों के लिये था। उन्होंने ब्रह्मा मुख द्वारा जो ज्ञान सुनाया उसे ब्राह्मणों ने धारण कर विश्व की अन्य आत्माओं को धारण कराने विश्व के कोने-कोने में भ्रमण किया। तो इस प्रकार भगवान के ज्ञान देने का क्षेत्र सारा विश्व ही था। इस सन्दर्भ में यदि हम तत्कालीन सामाजिक स्थिति और कलह-क्लेश के फैलाव की ओर

दृष्टिपात करते हैं तो पता लगता है कि यह सारा विश्व ही युद्ध क्षेत्र बना हुआ था। जब प्रत्येक मानव की भावनायें कलुषित हैं तो स्वाभाविक रूप से घर-घर में भी कलह क्लेश होगा, हर देश में झगड़ा-लड़ाई चलता होगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शांति होने की सम्भावना नहीं रहती।

महाभारत वर्णित अस्त्र-शस्त्रों से और उसमें हताहत हुए मनुष्यों की बहुसंख्या से यही प्रकट होता है कि यह एक विश्वव्यापी युद्ध था। वास्तविक युद्ध छिड़ने के कुछ समय पूर्व शीतयुद्ध चलता है। विरोधी राष्ट्रों द्वारा युद्ध की धमकियाँ अथवा युद्ध के बिगुल बजाये जाते हैं। समाज में अनिश्चितता की स्थिति छा जाती है। लोग सशंकित और भयभीत दिखाई पड़ते है। इस अवधि में ही परमपिता परमात्मा अपना दिव्य ज्ञान मनुष्यात्माओं के कल्याण अर्थ देते हैं। जब युद्ध छिड़ जाय उसके बाद तो प्रलंयकारी विनाश का ताण्डव नृत्य ही चलने लगता है। उस समय लोग त्राहि-त्राहि कर रहे होते हैं। संसार में हाहाकार मच जाता है। ऐसे समय में तो ज्ञान लेने और देने का समय नहीं होता। गीता प्रकरण को यदि हम इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह स्पष्ट होगा कि जिस युद्ध क्षेत्र का संकेत महाभारत में है वह युद्ध-क्षेत्र कुरुक्षेत्र का सीमित मैदान न होकर यह सारा विश्व ही युद्ध-क्षेत्र था।

अध्याय ३

महाभारत युद्ध का यथार्थ स्वरूप

युद्ध का वर्णन जिस प्रकार से महाभारत में किया गया उसमें कुछ इतना विरोधाभास है कि उसमें से यथार्थ बात को निकाल पाना सरल कार्य नहीं है। एक ओर कुरुक्षेत्र के सीमित मैदान पर युद्ध तो दूसरी ओर उसमें इतनी बड़ी सेना का भाग लेना व उसमें हताहत मनुष्यों की इतनी बड़ी संख्या दिखाई गई है जिनका कुरुक्षेत्र के मैदान पर एकत्रित होना तो क्या सम्भव होता इतनी आबादी सारे भारतवर्ष की भी नहीं हो सकती। गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित महाभारत में यह वर्णन आता है कि 'भीष्म जी ने दस दिनों के युद्ध में एक अरब सेना का संहार कर डाला।' अब एक अरब तो पाण्डवों की सेना का संहार हुआ तो अवश्य ही दूसरी ओर के कौरव सेना के हताहतों की संख्या भी इसके आसपास होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अभी ८ दिन का युद्ध और बाकी था। उसमें भी काफी संख्या में लोग मरे होंगे। इन सबको यदि जोड़ा जाय तो कदाचित् वह आज के विश्व की पूरी जनसंख्या के बराबर हो जाती है।

हताहतों की उपरोक्त संख्या के संदर्भ में यदि हम महाभारत युद्ध के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करना चाहें तो दो ही बातें सामने आती हैं। या तो यह सारी कहानी कवि की कोरी कल्पना है और महाभारत जैसी कोई घटना कभी घटी ही नहीं। या दूसरी बात यह हो सकती है कि इस युद्ध का स्वरूप बहुत व्यापक था और इस युद्ध में पूरा विश्व ही समा गया था और यह एक प्रकार की प्रलय की सी घटना थी। जहाँ तक इस कहानी के कोरी कल्पना होने का प्रश्न है वह बात इस लिये ठीक नहीं मालूम पड़ती कि महाभारत ग्रन्थ और उसमें घटित

घटनाओं का तथा उसके पात्रों का वर्णन यदाकदा अनेक पौराणिक ग्रन्थों और वेदों में भी आता है। कोरी काव्य कल्पना को इतना सम्मानित स्थान बाद के दार्शनिक व ग्रन्थकार देवें यह सम्भव नहीं लगता। इसमें अतिरंजना की भी सम्भावना हो सकती थी परन्तु वह भी इसलिये विवेकसंगत नहीं मालूम पड़ता कि जनसंख्या विशेषज्ञों का मत है कि आज से ४००० वर्ष पूर्व तो विश्व की जनसंख्या केवल कुछ लाख ही होगी। जनसंख्या वृद्धि की गति को देखते हुए यह बात सही सिद्ध होती है कि जब तक ४८०० वर्ष पूर्व जनसंख्या कुछ लाख ही न होकर यदि कुछ करोड़ भी होती तो वर्तमान जनसंख्या से कहीं अधिक संख्या में मनुष्य इस पृथ्वी पर होते। विशेषकर इसलिये कि इस बीच में तो ऐसा कोई प्रलयंकारी युद्ध हुआ ही नहीं जिसमें जन संख्या एक दम नीचे आ जावे। ज्ञात इतिहास में तो इस शताब्दी के दो महायुद्ध ही सबसे भयंकर युद्ध गिने जाते हैं परन्तु इनमें भी मनुष्य जनसंख्या अप्रावित रहकर बढ़ती ही गई है। तो जिस समय महाभारत ग्रन्थ लिखा गया उसके पहले यदि मनुष्य संख्या कभी भी अरबों में न रही होती तो यह कथाकार या कवि की कल्पना में भी नहीं आती। भारतीय दर्शन में प्रलय के वर्णन आते हैं। यदि कभी प्रलयंकारी रूप से मनुष्यों की मृत्यु न हुई होती तो प्रलय का वर्णन भी भारतीय ग्रंथों में न आता। अब ऐसे प्रलय का निकटतम स्वरूप तो महाभारत में ही मिलता है। इन बातों से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि महाभारत युद्ध के समय विश्व की जनसंख्या कई अरब थी। उस युद्ध में इनका विनाश हुआ और उसके पश्चात जनसंख्या बहुत थोड़ी रह गई जिससे वृद्धि पाते-पाते वह आज के जनसंख्या विस्फोट की स्थिति पर आ पहुंची और एक बार फिर विश्व प्रलय के कगार पर खड़ा है।

महाभारत युद्ध में जिन अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया बताया जाता है उनकी विध्वंसक क्षमता का यदि हम हिसाब लगायें तो वह बात सहज समझ में आ जावेगी कि उनमें विश्व की सम्पूर्ण मानव

समाज को आज की ही भाँति नष्ट करने की क्षमता थी।

'आग्नेयास्त्र' का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि 'जब अश्वत्थामा ने आग्नेय अस्त्र छोड़ा तो वह बाण धूमरहित अग्नि के सम्मान देदीप्यमान हो रहा था। उसके छूटते ही आकाश से बाणों की घनघोर वृष्टि होने लगी और चारों ओर आग की लपट फैल गई, हवा गर्म हो गई, सूर्य का तेज फीका पड़ गया, बादलों से रक्त की वर्षा होने लगी, तीनों लोक संतप्त हो उठे, जलाशयों के गर्म हो उठने के कारण उनके भीतर रहने वाले जीव जलने व छटपटाने लगे, महाप्रलय के समय संवर्तक नामवाली आग प्रगट होकर पाण्डव सेना को दग्ध करने लगी।

उपरोक्त बातों को यदि हम आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों के सन्दर्भ में देखें तो यह सारे दृश्य तब ही उपस्थित होते हैं या हो सकते हैं जब कोई भयंकर आणविक बम का विस्फोट किया जाय। ऐसे विस्फोट से उत्पन्न स्थिति और महाभारत वर्णित स्थिति में इतनी साम्यता आज से हजारों वर्ष पूर्व कवि की कोरी कल्पना से आ जाये यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। इससे तो एक ही निष्कर्ष निकलता है कि अवश्य आज जैसे बम पहले भी थे और उनके द्वारा सृष्टि का महाविनाश भी हुआ था।

इसके अतिरिक्त अन्य आयुधों का भी ऐसा वर्णन महाभारत में है जो वर्तमान वैज्ञानिक युग की उपलब्धियों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। 'वारुणास्त्र' का वर्णन है जिससे कृत्रिम जलवृष्टि की जा सकती थी। 'वायव्यास्त्र' से आँधी चला दी जाती थी। 'पर्जन्यास्त्र' से बादल पैदा किये जाते थे। 'भौमास्त्र' से पृथ्वी और 'पर्वतास्त्र' से पर्वत प्रकट करने का भी वर्णन आता है। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मसिर' नाम का दिव्य अस्त्र था। इस अस्त्र में सारे जगत को जला डालने की शक्ति थी। आज अपनी पराकाष्ठा पर पहुचा विज्ञान जिन उपलब्धियों से मानव जगत को चकाचौंध और भयभीन कर रहा है उसका आज से हजारों वर्ष पूर्व किया गया सजीव चित्रण क्या कथाकार की कोरी कल्पना हो सकती है? विवेक इसे स्वीकार नहीं

करेगा। इसके अतिरिक्त चन्द्रलोक आदि की अन्तरिक्ष यात्राओं का वर्णन, वायुमार्ग से युद्ध का वर्णन आदि अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जो इस बात का स्पष्ट संकेत देते हैं कि महाभारत युद्ध का ऐसा स्वरूप था जिसकी लपेट में सारा विश्व आ गया था। जनसंख्या के भार से दबी पृथ्वी का भार इस युद्ध ने हलका किया। उसके पश्चात पुनः इस पृथ्वी पर जनसंख्या वृद्धि के लिये स्थान बना। अब पुनः ठीक वैसी ही स्थिति आ पहुँची है। सृष्टि पर जनसंख्या का अतिरिक्त बोझ, उसका विनाश पुनः वृद्धि, पुनः विनाश का चक्र वृत्ताकार रूप से एक महाभारत से दूसरे महाभारत की अवधि के भीतर चलता ही रहता है।

यदि महाभारत युद्ध के इस उपरोक्त वर्णित स्वरूप की सम्भावना को ध्यान में रखकर मानव इतिहास की खोज करे तो अवश्य ही इतिहास के अध्ययन को एक नई दिशा मिलेगी।

अध्याय ४

गीता-महाभारत की पुनरावृत्ति

पुनरावृत्ति सिद्धान्त में जहाँ चार युगों के चक्र का वृत्ताकार पुनरावर्तन भारतीय दर्शन का अभिन्न अंग है वहीं पर भारतीय ग्रन्थों में कई स्थानों पर इस तरह का वर्णन आता है जिससे मालूम पड़ता है कि उन युगों में घटित घटनाओं की भी पुनरावृत्ति होती रहती है। इसी संदर्भ में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के चौथे अध्याय में भगवान के ये महा-वाक्य भी महत्वपूर्ण हैं कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म फैल जाता है तब-तब मैं स्वयं ही अवतार लिया करता हूँ। 'युगे-युगे' साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिये तथा धर्म की संस्थापना के अर्थ मैं अवतार लिया करता हूँ।

गीता के इन महावाक्यों में जो 'युगे युगे' शब्द है उसका अर्थ लोग यह लेते हैं कि परमात्मा का अवतरण हर युग में होता है। परन्तु 'युगे-युगे' शब्द का अर्थ लगाते समय यदि यह याद रक्खा जाय कि ये शब्द 'धर्म ग्लानि' के सन्दर्भ में उपयोग किया गया है तो इसका यह अर्थ कदापि न लग सकेगा कि परमात्मा का अवतार हर युग में होता है। इसका सीधा सरल अर्थ यही निकलेगा कि जिस युग में धर्मग्लानि होती है उस युग में परमात्मा का अवतरण होता है। सत्युग और त्रेतायुग में तो धर्म पूर्ण रूप स्थित है। वहाँ पर सतोप्रधानता है इसलिये वहाँ तो धर्मग्लानि का प्रश्न ही नहीं है। द्वापर से धर्म ग्लानि प्रारम्भ अवश्य होती है परन्तु वह इतनी पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचती कि उसे ठीक करने के लिये परमात्मा को स्वयं आना पड़े। दूसरी बात कि परमात्मा जब आते हैं तो अधर्म का विनाश करने के साथ-साथ सत्धर्म की स्थापना करना भी उनका काम है। यदि वह द्वापर युग में आवें तो फिर

युगक्रम से उसके बाद कलियुग को आना ही है। यदि परमात्मा कलियुग का प्रारम्भ करा कर जावें तो यह नहीं कहा जा सकेगा कि उन्होंने धर्म की स्थापना की। इसलिये कलियुग के अन्त का ही एक ऐसा समय है जब उपरोक्त महावाक्यों के अनुसार परमात्मा पृथ्वी पर अवतरित हो अधर्म अथवा कलियुग का विनाश कर सत्धर्म अथवा सत्युग की स्थापना कर सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर उपरोक्त 'युगे युगे' का यही अर्थ निकलता है कि परमपिता परमात्मा प्रत्येक चतुर्युग में एक बार कलियुग के अन्त और सत्युग आदि के संगम समय पर अवतरित होते हैं। इसे हम पुरुषोत्तम 'संगम युग' कहेंगे। चूंकि प्रत्येक कलियुग के अन्त में धर्म की अति ग्लानि होती है और उसके बाद सत्युग स्थापन करने की आवश्यकता रहती है इसलिये हर चतुर्युगी में कलियुग के अन्त और सत्युग आदि के संगम समय पर परमात्मा के अवतरण की पुनरावृत्ति होती रहती है।

गीता के भगवान ने चौथे अध्याय में यह भी कहा कि यह योग मार्ग अथवा योग का ज्ञान मैंने पहले सूर्य को बतलाया था। सूर्य ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया। ऐसी परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना। परन्तु दीर्घकाल के अनन्तर वह योग इस लोक से नष्ट हो गया। इस पुरातन योग को मैं तुझे बतला रहा हूँ।

उपरोक्त वचनों से यह स्पष्ट होता है कि परमपिता परमात्मा जब पृथ्वी पर अवतरित होते हैं तो मनुष्यात्माओं के कल्याण अर्थ उसी योग को सिखाते हैं जो उन्होंने पिछले अवतरण के समय सिखाया था सिखाना भी उन्हें इसीलिये पड़ता है कि योग टूटने से मनुष्य योगी से भोगी बन जाते हैं। भोगी बनने से अधर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं।

गीता ज्ञान की पुनरावृत्ति

पूर्व अध्याय में युगों की आयु स्पष्ट करते समय वर्तमान समय की सामाजिक अवस्था व पिछले महाभारत के समय की सामाजिक अवस्था में समानता दर्शायी जा चुकी है। वर्तमान समय में भी अधर्म

वैसी ही पराकाष्ठा पर है जैसा पिछले महाभारत के समय था। अतः यह परमात्मा के अवतरण का उपयुक्त समय है। वास्तविकता यह है कि परमपिता परमात्मा अधर्म विनाश और सत्धर्म की स्थापना का यह कार्य कर रहे हैं। आत्मा परमात्मा और सृष्टि चक्र का ज्ञान ब्रह्मा मुख से देकर ब्रह्मामुखवंशावली ब्राह्मणों की उत्पत्ति हो चुकी है और इन ब्राह्मणों द्वारा संसार को ईश्वरीय संदेश दिया जा रहा है। दो शब्दों का यह दिव्य सन्देश है 'पवित्र बनो और योगी बनो'। इन दो शब्दों के ईश्वरीय सन्देश को जीवन में अपनाने के लिये आत्मा के वास्तविक रूप, गुण, कर्तव्य और धाम का परिचय भी आवश्यक है तो परमात्मा भी 'जो है और जैसा है' उसको उस रूप से जानने के लिये अव्यक्त मूर्त परमात्मा के नाम रूप, गुण, कर्तव्य और धाम का सही परिचय भी आवश्यक है, क्योंकि इस परिचय के बिना आत्मा का परमात्मा से न स्नेहपूर्ण योग लग सकता है और न उसे आत्मिक सम्बन्ध के अतीन्द्रिय सुख की अनुभुति हो सकती है। परमात्मा यह ज्ञान देकर आत्माओं को निरन्तर योग में स्थिर रह कर्म करने की शिक्षा देते हैं। उनके द्वारा दिये गये ज्ञान का सार है कि आत्मिक ज्ञान, परमात्मा की याद व दिव्य गुणों की धारणा का निरन्तर अभ्यास ही वास्तविक धर्म है। इस धर्म में स्थित होकर कर्म करना ही सच्चा प्रवृत्ति मार्ग है। इसे ही कर्मयोग कहा जाता है। इसमें कर्म करते समय आत्मविस्मृति नहीं होती और आत्मस्मृति में रहने के लिये कर्म नहीं छोड़ना पड़ता। परमात्मा पवित्र प्रवृत्ति मार्ग की स्थापना करते हैं। ऐसा पवित्र जिसमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार, आलस्य और भय आदि विकारों का नाम-निशान न हो। ऐसी विकार रहित सृष्टि को ही सत्युगी दैवी सृष्टि कहेंगे। ऐसी सृष्टि की स्थापना को ही सत्धर्म की स्थापना कहा जाता है।

इस कार्य हेतु परमपिता परमात्मा के साकार माध्यम प्रजापिता ब्रह्मा ने ज्ञान यज्ञ अथवा ईश्वरीय विश्वविद्यालय स्थापन किया है। इसका नाम प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय है। इस

विश्वविद्यालय द्वारा ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग की शिक्षा दी जा रही है। इस विद्यालय में ब्रह्मा मुखवंशावली ब्राह्मण विश्व कल्याण अर्थ लोगों को ईश्वरीय ज्ञान सुना रहे हैं व सहज राजयोग की शिक्षा दे रहे हैं। गृहस्थ व्यवहार में रहते हुए सम्पूर्ण पवित्रता का पाठ पढ़ाकर आत्माओं में पवित्रता का संचार कर रहे हैं। इस प्रकार भगवान का गीता वर्णित कार्य पूरी तरह वर्तमान समय चल रहा है। यद्यपि यह भी सत्य है कि इस ज्ञान को लेकर जीवन में अपनाने वालों की संख्या अभी कुछ सहस्रों में ही है परन्तु जीवन को ईश्वरीय ज्ञान के अनुरूप ढालने का साहस सब तो नहीं रख सकते। इसीलिये गीता में (७·३) भगवान ने कहा है कि 'हजारों मनुष्यों में कोई एक आध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है और प्रयत्न करने वाले इन अनेक सिद्धि पुरुषों में से कोई एक आध को ही मेरा सच्चा ज्ञान हो पाता है।' भगवान के महावाक्यों को चरितार्थ करते हुए यदि थोड़ी संख्या में ही लोग इसे ले पा रहे हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है। सच तो यह है कि भगवान जब पृथ्वी पर अवतरित होते हैं तो उस समय माया का इतना प्रसार रहता है और अपने आप को भगवान कहने वालों की इतनी भरमार रहती है कि साधारण तन में अवतरित परमात्मा को कोई पहचानते नहीं। तभी तो भगवान ने स्वयं गीता में (९·११) कहा है कि 'मूढ़ लोग मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते। वे मुझे मानव तनधारी समझ कर मेरी अवहेलना करते हैं।' गीता (७·२४) में भगवान कहते हैं कि 'बुद्धिहीन लोग मेरे श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यय रूप को न जानकर मुझ अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं।' आगे कहा (७·२५) मैं अपनी योगरूप माया से आच्छादित रहने के कारण सबको प्रगट नहीं दिखता। गीता (११·५३) में भगवान कहते हैं कि 'जैसा तूने मुझे देखा है वैसा मुझे वेदों से, तप से, दान से अथवा यज्ञ से भी कोई देख नहीं सकता।' भगवान के इन वचनों से स्पष्ट है कि जब परमात्मा अवतरित होते हैं तो उनको बहुत कम व्यक्ति पहचानते हैं और मिथ्या ज्ञान में डूबे देहाभिमानी तथाकथित विद्वान उनके द्वारा

दिये जा रहे ज्ञान पर विवेक चलाने की भी आवश्यकता नहीं समझते परन्तु अन्त में जब उन्हें बोध होता है उस समय तक समय निकल चुका होता है और पछताने के सिवा उनके पास कुछ नहीं रहता। ऐसे समय मिथ्या ज्ञान, कर्मकाण्ड, अन्ध श्रद्धा और विवेकहीन भक्ति का इतना फैलाव होता है कि जब भगवान मनुष्यप्राणियों को इससे निकल कर ज्ञान में स्थिर होने को कहते हैं तो उन्हें कठिन लगता है।

इस विश्वविद्यालय में परमात्मा की पहली शिक्षा होती है कि काम महाशत्रु है। इसको जीतो और ब्रह्मचर्य में रहो तो मूढ़मति लोग कहते हैं कि यह कैसे सम्भव है। ऐसा होने पर सृष्टि कैसे चलेगी? परन्तु गीता में (३·३७) भगवान कहते हैं कि 'रजोगुण से उत्पन्न होने वाला बड़ा पेटू व पापी यह काम एवं क्रोध ही शत्रु है।' आगे कहा (३·३८-३९) जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, धूल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार इससे यह सब ढका हुआ है। ज्ञाता का यह कामरूपी नित्यवैरी कभी न तृप्त होने वाला अग्नि है।

इस विश्वविद्यालय द्वारा परमपिता परमात्मा सहज राजयोग या ज्ञानयोग सिखाकर योग अग्नि द्वारा पुराने पापों को दग्ध करा रहे हैं। दैवी गुणों को धारण करा कर मनुष्य को दैवी गुणों से युक्त देवता बनने की शिक्षा दे रहे हैं। संक्षेप में वर्तमान समय वह गीता प्रकरण पूरी तरह पुनरावृत्त हो रहा है जो पिछले कलियुग के अन्त में चला था। अगर पवित्रता के नियमों में रहकर और पूर्वाग्रहों को छोड़कर कोई जिज्ञासु या विद्यार्थी बन अपने जीवन को ज्ञानमय बनाने की इच्छा रख इस ज्ञान का अध्ययन करें और यहाँ सिखाये जा रहे योग को सीखें तो हमें पूर्ण आशा है कि वह यह स्पष्ट समझ लेंगे कि गीता प्रकरण पुनरावृत्त हो रहा है।

महाभारत युद्ध की पुनरावृत्ति

महाभारत युद्ध के पूर्व जिस प्रकार के द्वेष भाव, कलह व दुर्भावना का वातावरण था वह सब इस समय देखने को मिल रहा है। उस

युद्ध में उभय पक्षों में से प्रत्येक की ओर भिन्न-भिन्न देशों के राजा आ मिले थे । इस समय भी विश्व दो गुटों में बँट गया है, यदि कोई तीसरा गुट है तो वह भी समय पर तटस्थ रह सके ऐसा सम्भव नहीं लगता । परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं जिसमें किसी भी सम्भावित विश्व युद्ध में सभी राष्ट्रों का प्रभावित होना अवश्यम्भावी हो गया है ।

घातक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण और संग्रह की होड़ लगी हुई है । इतना तो सर्वविदित है कि यदि एक बार आणविक विश्व युद्ध की चिनगारी निकली तो वह मानवता को ऐसे ही भस्मीभूत करने में समर्थ है जैसे पूर्व महाभारत के समय हुआ था और वह समय भी अधिक दूर नहीं लगता । अभी हाल में ही हिन्दुस्तान टाइम्स (९ फरवरी १९७६) में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार हावर्ड यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर व नोवुल पुरस्कार विजेता डाक्टर जार्ज वाल्ड ने विचार प्रकट किया है कि 'वैज्ञानिकों के लिये यह सोचना कठिन हो गया है कि मानव समुदाय ईसवी सदी २००० के बाद कैसे चलेगा ।' उन्होंने कहा कि 'समाज इस समय मृत्यु के लिये तैयारियाँ कर रहा है, जीवन के लिये नहीं ।' उन्होंने कहा कि 'विश्व अब विनाश की राह पर चल पड़ा है ।' इसके चार चिन्ह बताये—(१) आणविक शक्ति का संग्रह (२) प्रदूषण (३) प्राकृतिक साधनों का अनुचित प्रयोग व ह्रास और (४) जनसंख्या वृद्धि ।

वैज्ञानिक ऐसे अणु युद्ध के संभावित समय को घड़ी की सुई द्वारा भी दर्शाने लगे हैं । वाशिंगटन के 'वुलेटिन आफ दि एटामिक साइंटिस्ट्स' के फरवरी-मार्च १९६८ के मुखपृष्ठ पर एक घड़ी छापी गई है जिसमें समय की सूई रात्रि के बारह बजे (Zero hour) से केवल पांच मिनट पहले की स्थिति में दिखायी गयी थी । घड़ी में रात्रि का बारह बजे का अंक उस समय का सूचक है जबकि अणु बमों द्वारा सृष्टि का महाविनाश होगा । इस घड़ी का नाम विनाश घड़ी है । घड़ी को ११-५५ पर रखने का मतलब है कि महाभारी महाविनाश अब बहुत ही निकट है ।

अभी हाल ही में छपे समाचारों के अनुसार वर्तमान समय वैज्ञानिक उपलब्धियों में निन्नलिखित भी सम्मिलित है :

(i) घटाओं में चमकने वाली बिजली को शत्रु के स्थानों पर प्रहार करने के लिये प्रेरित करना ।

(ii) समुद्री तूफानों को विध्वंस करने के लिये शत्रु देश के निकट तटवर्ती क्षेत्र की ओर उन्मुख करना ।

(iii) गुप्त विद्युत तरंगों को मानव मस्तिष्क में उथल-पुथल मचाने के लिये धरातल पर सम्प्रेषित किया जा सकता है ।

स्टाकहोम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति अनुसंधान संस्थान के डा० फ्रैंक बर्नाबाय इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि :

(a) समुद्री तूफान और झंझावात में निहित ऊर्जा को यदि शक्ति पुंज के रूप में प्राप्त कर लिया गया तो इसका उपयोग युद्धभूमि, हवाई अड्डों, बन्दरगाहों और नौसैनिक बेड़ों को नष्ट करने में किया जायेगा ।

(b) हिम स्खलन या बड़े पैमाने पर भूस्खलन का प्रयोग करके पर्वतों के दर्रे बन्द करने, नदी में जहाजरानी रोकने और संचार मार्गों को अवरुद्ध करने में किया जा सकेगा ।

(c) मेघों में ओले पैदा कर विमानों के एंटिना और बिजली की लाइनों को ध्वस्त किया जावेगा ।

(d) मेघों की बिजली को संचार सुविधाओं को ध्वस्त करने व आग लगाने में किया जा सकेगा । अन्त में उन्होंने कहा कि कृत्रिम वर्षा के सदृश वैज्ञानिक अब बादलों से कृत्रिम बिजली भी पैदा करने में समर्थ हैं ।

इस प्रकार यदि हम ध्यान से देखें तो आज का वैज्ञानिक अपने बुद्धिरूपी पेट से आग्नेयास्त्र व मूसल जैसे सर्वविनाश करने वाले मिसाइल्स, राकेट, बाम्बस व प्राकृतिक हथियार आदि सभी कुछ प्राप्त

कर चुका है। जहाँ एक ओर मानव स्वयं अपने मन, इन्द्रियों व विकल्पों को रोकने में सर्वथा असमर्थ है वहीं दूसरी ओर उसने बाह्य प्रकृति पर सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है और प्रत्येक तत्व उसके इशारे मात्र पर भयंकर विनाश लीला प्रस्तुत करने को जैसे उद्यत है। इस प्रकार बाह्य प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करने से वर्तमान मानव प्राकृतिक आपदाओं का भी स्वयं जनक बन गया है। जब कभी ईर्ष्या द्वेष, आवेश क्रोध या किसी अन्य मानसिक उत्तेजना के कारण दोनों पक्षों में से एक का भी नेता अपना मानसिक सन्तुलन एक क्षण के लिये भी खो दे, उसी ससय प्राकृतिक आपदाएं व अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भयंकर विनाश लीला अथवा ताण्डव नृत्य प्रारम्भ कर देंगी। मनुष्य की इन आसुरी उपलब्धियों को यदि हम महाभारत काल की विनाश लीला से तुलना करें तो बड़ी समता दिखाई पड़ेगी।

हम पहले अध्याय में यह बता आये हैं कि महाभारत युद्ध में जितने थोड़े समय में जितने अधिक मनुष्यों की हत्या हुई वह आज के आणविक अस्त्र-शस्त्रों द्वारा ही सम्भव है। यह भी बताया गया कि उस समय विज्ञान की जो पराकाष्ठा थी वह सब इस आणविक युद्ध में नष्ट-भ्रष्ट हो गई और मनुष्य पुनः पत्थर युग में लौटने पर मजबूर हो गया। इसके लिये ही प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन ने कहा था कि चौथे विश्व युद्ध में केवल पत्थरों के हथियार होंगे। इस प्रकार पिछले महाभारत की सभी बातें जैसे कि हूबहू पुनरावृत्त हो रही हैं। यदि पुराने साहित्य की पूरी खोज की जाय तो बहुत से ऐसे अकाट्य प्रमाण मिलेंगे जिनसे प्राचीन समय की वैज्ञानिक प्रगति की समानता वर्तमान समय से हो सकेगी। पौराणिक साहित्य की खोजों के आधार पर अब तो अनेक विद्वानों द्वारा यह कहा जाने लगा है कि आज का न्यूकलीय सिद्धांत प्राचीन भारत को मालूम था। यदि हम केवल उस कड़ी को जोड़ दें कि कैसे यह विद्या लोप हो गयी और फिर यह पुनः वर्तमान समय में ज्ञात हुआ तो महाभारत प्रकरण के पुनरावर्तन को समझना हमारे लिये सहज हो जावेगा।

विश्व परिवर्तन

गीता ज्ञान दाता परमपिता परमात्मा शिव गीता ज्ञान द्वारा जो आध्यात्मिक क्रान्ति करा रहे हैं, उसके द्वारा मानव विचारों में परिवर्तन लाकर मानव को जिस प्रकार पवित्रता के पथ पर अग्रसर करा रहे हैं वह निश्चय ही एक नये युग—सत्युग—का सूत्रपात है। यह विश्व युद्ध उसके लिये संसार से दूषित विचार वाले मनुष्यों का सफाया करने के साथ-साथ जनसंख्या को भी इतने नीचे ले आयेगा जिससे न केवल वर्तमान जनसंख्या की समस्या हल होगी बल्कि उसमें इतनी गुंजाइश हो जावेगी कि फिर सहस्रों वर्षों तक मनुष्य अपनी संख्या को धीरे-धीरे बढ़ा सकेगा। जब मालथस द्वारा दी गई कृत्रिम अवरोध और प्राकृतिक अवरोध दोनों ही जनसंख्या की वृद्धि को रोकने में असमर्थ हो जाते हैं तो ऐसा विशेष उपाय चार युगों के चक्र में एक बार कलियुग के अन्त में आता है जब सृष्टि की जनसंख्या ऐसे स्तर पर आ जाती है जहाँ से फिर वह चार युगों तक बढ़ती रहे। इसी तरह सृष्टि पर अनेक धर्म, अनेक राज्य के आधार पर जो झगड़े चल रहे हैं वे भी समाप्त होकर एक विश्व राज्य, एक विश्व मानव धर्म अथवा आत्म धर्म की स्थापना हो जाती है। पिछले महाभारत में ऐसा ही हुआ था और भावी महाभारत के बाद भी इसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावनायें हैं।

अमेरिका की प्रख्यात ज्योतिषी श्रीमती जीन डिक्शन अपनी भविष्यवाणी में कहती हैं कि 'एक ऐसी आत्मा का जन्म हो चुका है जो संसार का कायाकल्प करेगा। सम्प्रदायों की संकीर्णता मिटाकर वह एक ऐसे सार्वभौम विश्वधर्म की स्थापना करेगा, जो विश्व के हर नागरिक को मान्य होगा। १९८० के आस-पास होने वाले विनाशकारी युद्ध के समय भी इस मसीहा का कार्य धर्म-स्थापना के रूप में चलता रहेगा और युद्ध के पश्चात वह संसार का सर्वसमर्थ व्यक्ति बन जावेगा।' उनके अनुसार १९९९ तक तृतीय विश्व युद्ध और सभी भयंकर घटनाएं हो लेंगी और नये युग का पूर्ण विकास भी हो जावेगा।

इसी प्रकार जार्ज बाबेरी ने, जो मिस्र की गुप्त विद्याओं के प्रकाण्ड

पंडित थे, यह भविष्यवाणी की थी कि, संसार को सत्युग का प्रकाश देने वाली आत्मा भारतवर्ष में जन्म ले चुकी है। जो हजारों अज्ञानी-मूर्ख लोगों के विरोध के बावजूद अपने प्रचण्ड और प्रखर रूप से संसार को झकझोर देगा। श्री डेनियल का मत है कि ऐसी आध्यात्मिक शक्ति से भौतिकवादी पराजित हो जावेंगे एवं सारे संसार का शासन-सूत्र एक स्थान से चलेगा, एक भाषा और एक संस्कृति होगी, शहरों की संख्या बहुत थोड़ी रह जावेगी, संचार के साधनों का यहां तक विकास हो जावेगा कि लोग अपने मन की बात दूसरे लोगों तक बेतार के तार की तरह पहुंचा दिया करेंगे।'

उपरोक्त बातों के लिखने का उद्देश्य मानव मात्र को यह बतलाना है कि विश्व इस समय चारित्रिक संकट अथवा धर्म ग्लानि की चरम सीमा पर है। इस अधर्म का विनाश व सत्धर्म की स्थापना हेतु भगवान का अवतरण हो चुका है। अब कलियुग जा रहा है तथा वह सत्युग आ रहा है जिसमें प्रत्येक मानव स्वभाव-संस्कार से पवित्र व संयमी होगा। यह दो चतुर्युगों का सुहावना संगम अथवा संधिकाल है जो अमृतवेला अथवा ब्रह्म मुहूर्त कहा जाता है। अब परमपिता परमात्मा प्रजापिता ब्रह्मा के द्वारा ज्ञानामृत पिला रहे हैं। अब दुखी व अशान्त आत्माओं की ब्रह्मलोक या शान्तिधाम वापिस जाने की घड़ी आ पहुची है। अतः प्रत्येक प्रिय भाई-बहन को चाहिये कि वह वर्तमान समय के महत्व को पहिचानकर, अपने परमपिता परमात्मा से प्राप्त हो रहे सहज ईश्वरीय ज्ञान तथा राजयोग द्वारा अपने जीवन को पवित्र, योगी एवं सदगुण युक्त बताये और इस समय प्रभु पिता से स्नेहपूर्ण योग रखकर अपने संस्कारों को आसुरी से दैवी, असंयत से संयत में परिवर्तन करके देवता बनने का सर्वोत्तम पुरुषार्थ करे। इस पुस्तिका का उद्देश्य आगामी विनाश की बात बताकर मनुष्य को डराना नहीं बल्कि समय को पहिचान देकर मानव को आत्मिकता की ओर ले जाना है।
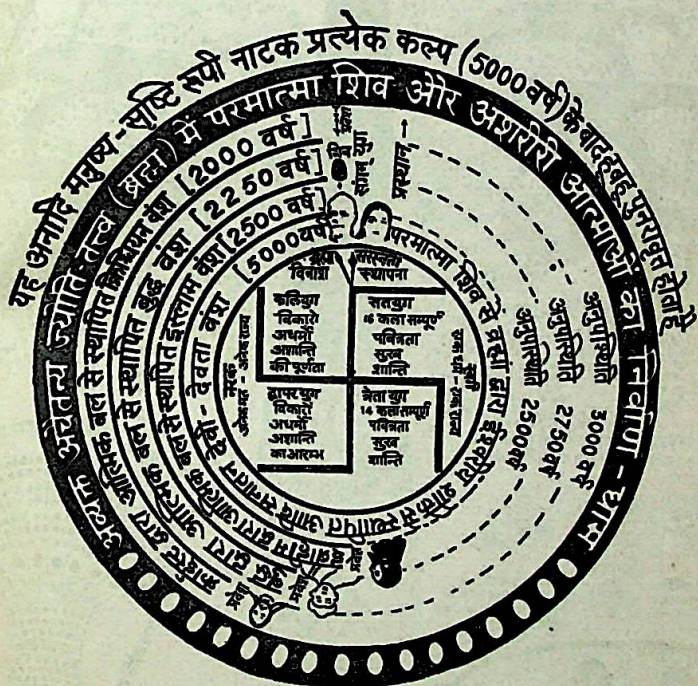
यह अनादि मनुष्य-सृष्टि रूपी नाटक प्रत्येक कल्प (5000 वर्ष) के बाद हूबहू पुनरावृत होता है
परमात्मा शिव और अशरीरी आत्माओं का निवास
[2000 वर्ष]
[2250 वर्ष]
[2500 वर्ष]
[5000 वर्ष]
परमात्मा शिव से ब्रह्मा द्वारा ईश्वरीय शक्ति से स्थापित आदि सनातन
देवी-देवता वंश
इस्लाम वंश
बौद्ध वंश
क्रिश्चियन वंश
कलियुग
विकारों
अधर्म
अशान्ति
की पूर्णता
सतयुग
16 कला सम्पूर्ण
पवित्रता
सुख
शान्ति
त्रेता युग
14 कला सम्पूर्ण
पवित्रता
सुख
शान्ति
द्वापर युग
विकारों
अधर्म
अशान्ति
का आरम्भ
सरस्वती
स्थापना
विनाश
अनुपस्थिति 3000 वर्ष
अनुपस्थिति 2750 वर्ष
अनुपस्थिति 2500 वर्ष
प्रस्थान
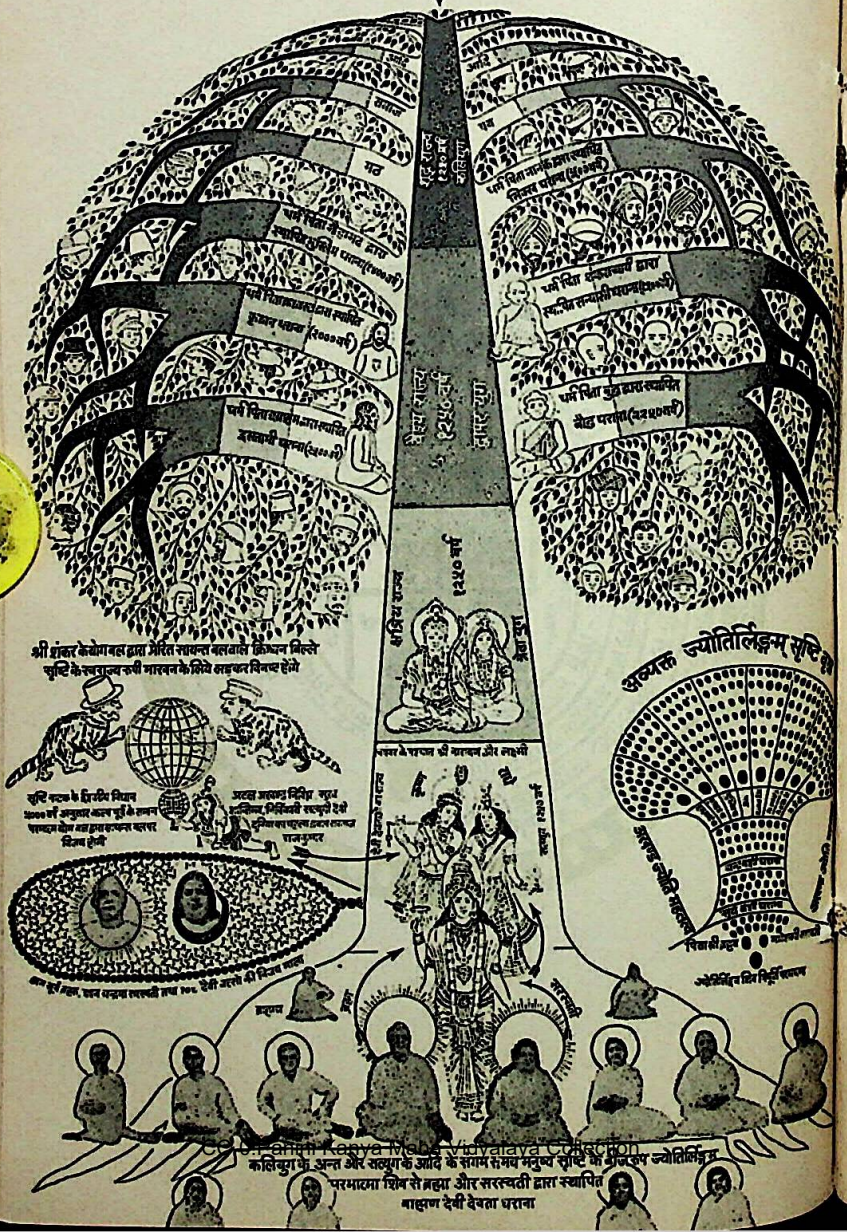
जीवन हीरे-तुल्य कैसे बने ?

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय
पाण्डव भवन
माउण्ट आबू

जीवन हीरे-तुल्य कैसे बने ?

●

पहली आवृत्तियाँ........................८०,०००

आठवीं आवृत्ति........................१५,३०००

प्रकाशक

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय

पाण्डव भवन, माऊँट आबू (राज०)

जीवन हीरे-तुल्य कैसे बने

आज हम देखते हैं कि एक ओर तो संसार विज्ञान द्वारा खूब उन्नति कर रहा है और मनुष्य चाँद तक पहुँच चुका है परन्तु दूसरी ओर मनुष्य का चरित्र दिनों-दिन गिरता जा रहा है। मनुष्य का आज जैसा व्यावहारिक जीवन है और संसार की आज जैसी हालत है, वैसी सतयुग और त्रेतायुग में न थी और कलियुग में भी अब से कुछ समय पहले तक न थी। अब तो वायुमण्डल ही बदल गया है और इस दुनिया में सुख का तो बिल्कुल ही सार नहीं रहा! दो शब्दों में हम कह सकते हैं कि अब मनुष्य का जीवन कौड़ी-तुल्य हो गया है। क्योंकि अब तो जीवन में न दैवी-गुण हैं और न ही सच्ची शान्ति!

आज की परिस्थिति को देखकर बहुत-से लोग निराश हैं और सोचते हैं कि इतने साधुओं, सन्तों और सभी महात्मा लोगों ने दो-ढ़ाई हज़ार वर्ष भरसक प्रयत्न किया परन्तु फ़िर भी दुनिया में गिरावट ही होती आई है और अब तो इस दुनिया के सुधरने का कोई भी चिह्न दिखाई नहीं देता। अन्य कई लोग चिन्तित से हो पूछते हैं कि—"आख़िर इस दुनिया का और मनुष्य का क्या हाल होगा, इसका सुधार कैसे होगा? क्या इसके बदलने की कुछ सम्भावना है?" अन्य कई लोग कहते हैं—"यदि परमात्मा है तो वह इस सृष्टि को सुधारते क्यों नहीं? यदि परमात्मा का अवतरण होता है तो वह अवतरित होकर मनुष्य-मात्र को सदाचार का पाठ क्यों नहीं पढ़ाते और दुःख का अन्त करके यहाँ सुख की स्थापना क्यों नहीं करते?"

इस विषय में हम यह स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि विश्व में सम्पूर्ण पवित्रता, सुख और शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य और उनके लिए आवश्यक ज्ञान किसी भी मनुष्य में नहीं है, चाहे वह कितना भी महान् क्यों न हो। यह कार्य केवल ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, सर्वशक्तिमान, पतित-पावन, परमपिता परमात्मा ही कर सकते हैं जिन्हें कल्याणकारी होने के कारण 'शिव'

कहा जाता है। परमात्मा शिव जब यह कार्य करते हैं तब कलियुग का और दुःख का अन्त हो जाता है और सतयुग अर्थात् सम्पूर्ण सुख का ज़माना आ जाता है तथा मनुष्य का जीवन कौड़ी-तुल्य से हीरे-तुल्य बन जाता है और फिर सतयुग और त्रेतायुग में दुःख और अशान्ति का बिल्कुल नाम-निशान भी नहीं होता। परमपिता परमात्मा यह कर्त्तव्य सारे कल्प में एक ही बार, कलियुग के अन्त में धर्म की अति ग्लानि के समय ही करते हैं।

अब हम आपको यह शुभ सूचना देना चाहते हैं कि वह परमप्रिय, निराकार परमपिता परमात्मा शिव अब यह शुभ कर्त्तव्य कर रहे हैं और निकट भविष्य में ही मनुष्य-मात्र की सुख-शान्ति की इच्छा पूर्ण हो जाने वाली है। शायद हमारे इस कथन पर आपको आश्चर्य भी होता होगा परन्तु यदि आप विचार करें तो आज की परिस्थितियाँ ही इस बात का प्रमाण हैं कि वर्त्तमान समय परमात्मा के अवतरित होने और इस संसार के बदलने का समय है। आप देख तो रहे हैं कि आज विश्व के महाविनाश के लिए एटम और हाइड्रोज़न बम तैयार हो चुके हैं और आज संसार में भ्रष्टाचार और पापाचार इतना बढ़ चुका है और विश्व में इतनी जटिल समस्यायें इकट्ठी हो चुकी हैं कि अब परमपिता परमात्मा के सिवा इन्हें और कोई भी नहीं सुधार सकता। अतः अब निश्चय ही परमपिता परमात्मा शिव प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा सम्पूर्ण पवित्रता, सुख और शान्ति का ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार दे रहे हैं।

अब कल्याणकारी, पतित-पावन परमपिता परमात्मा शिव ने मनुष्य-जीवन कौड़ी-तुल्य से हीरे-तुल्य बनाने के लिए और सृष्टि को पुनः सतयुगी और दैवी बनाने के लिए चार मुख्य बातें सहज रीति से समझाई हैं और उन्हें अपने प्रेक्टिकल जीवन में अपनाने की शिक्षा दी है, उन्हीं में से केवल तीन अनमोल परन्तु सहज युक्तियों का उल्लेख इस लेख-माला में किया गया है।

ईश्वरीय ज्ञान और उसमें निश्चय

देखा जाय तो मनुष्य के मन में सुख और शान्ति न होने का एक-मात्र कारण यही है कि मनुष्य स्वयं को भूला हुआ है। आज वह न स्वयं को पहचानता है, न अपने परमप्रिय परमपिता परमात्मा को जानता है और न अन्य मनुष्यों के साथ अपने वास्तविक नाते को ही जानता है।

आप कहेंगे कि अपने-आपको, अपने पिता को तथा अन्य मनुष्यों के साथ अपने नाते को तो हरेक मनुष्य जानता है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि हरेक मनुष्य अपनी देह को, देह के पिता को और देह के नातेदारों को तो जानता है, परन्तु सबसे बड़ी भूल यह है कि देह से भिन्न, देह में रहने वाला वह स्वयं जो चेतन शक्ति है, उसको वह नहीं जानता। वह स्वयं तो एक आत्मा ही है और परमपिता परम-आत्मा ही की अविनाशी सन्तान है। परन्तु उसे यह बात भूल जाती है और अन्य लोगों के साथ भी जब वह व्यवहार करता है तो यह बात उसकी स्मृति में नहीं रहती। उसे यह याद नहीं रहता कि—"मैं कौन हूँ किस सुखदाता, शान्तिदाता एवं प्रेम के सागर पिता की सन्तान हूँ; मैं कहाँ से आया हूँ, मुझे कहाँ जाना है, इस संसार रूपी खेल का वृत्तान्त क्या है और मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है तथा मेरे कर्म कैसे होने चाहियें ?" इन सभी बातों को न जानने के कारण ही संसार की हालत बिगड़ गई है।

अतः आज मनुष्य का और संसार का कल्याण तभी हो सकता है जब पहले तो अपने-आपको और अपने परम प्यारे परमपिता परमात्मा को जाने, अपने जीवन लक्ष्य को पहचाने तथा कर्मों की गति और उसके गुह्य रहस्य को समझे। परन्तु इस ज्ञान को केवल समझना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि समझकर उसे प्रेक्टीकल जीवन में लाना भी ज़रूरी है। तभी उसके जीवन में परिवर्त्तन आ सकेगा और सच्चे सुख का अनुभव भी हो सकेगा।

उदाहरण के तौर पर हम देखते हैं कि जब किसी छोटे बच्चे को

उसका पिता यह ज्ञान देता है कि—"मैं तुम्हारा पिता हूँ, यह तुम्हारी माता है, अमुक तुम्हारा भाई है, मेरा नाम अमुक है और देश का नाम फ़लाँ है", तो वह बच्चा उस परिचय को समझ तक ही नहीं रखता बल्कि व्यवहार में भी बरतता है वैसे उस नाते को जान कर प्रेक्टीकल जीवन में उसके अनुसार चलने से ही अपने पिता से उसकी सम्पत्ति तथा जन्म-सिद्ध अधिकार की प्राप्ति होती है। ठीक इसी प्रकार, परमपिता परमात्मा भी अपने दिव्य धाम का और सभी आत्माओं के साथ अपने अविनाशी सम्बन्ध का जो परिचय देते हैं, हमें केवल उसे बुद्धि द्वारा जान लेना ही काफ़ी नहीं समझ लेना चाहिए, बल्कि उस ज्ञान को अपने प्रेक्टीकल जीवन में प्रयोग में लाना चाहिए, और परमपिता परमात्मा के साथ प्रेक्टीकल रीति से हमारा वह स्नेह और नाता होना चाहिए। तभी हमें परमपिता परमात्मा से सम्पूर्ण पवित्रता, सुख और शान्ति का ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त हो सकेगा।

ईश्वरीय ज्ञान में निश्चय

ईश्वरीय ज्ञान को जीवन में प्रेक्टीकल रीति से धारण करने का तरीका यही है कि मनुष्य कार्य-व्यवहार करते समय भी उस ज्ञान के निश्चय में रहे। उस निश्चय में स्थिर रहने से उसके कर्मों में बहुत अन्तर आयेगा क्योंकि मनुष्य का जैसा निश्चय होता है, वैसा ही वह कर्म करता है। आप देखते हैं कि एक मनुष्य घर में स्वयं को जब 'पिता' निश्चय करता है तो उसका व्यवहार अथवा उसके कर्म भी पिता के जैसे ही होते हैं। वही मनुष्य जब किसी स्कूल में पढ़ाने जाता है तो वह स्वयं को 'अध्यापक' निश्चय करता है और उसका कर्त्तव्य भी अध्यापक ही का चलता है। वह जब अपने मित्रों में बैठता है तो स्वयं को उनका 'मित्र' निश्चय करता है और उनके साथ वैसे अनौपचारिक रीति से और निस्संकोच हो कर मित्र-भाव से बातें करता है। इस प्रकार, मनुष्य का निश्चय ही उसके कर्मों का

नेता है। जैसा वह अपने को निश्चय करता है, वह वैसा ही हो जाता है।

अतः अब परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा हमें जो ईश्वरीय ज्ञान दिया है उसमें निश्चय करने से ही हमारे जीवन में उन्नति हो सकती है। जब तक उसमें हमारा निश्चय नहीं होगा तब तक हमारा पुरुषार्थ यथार्थ रीति से शुरू ही नहीं होगा और जितना-जितना हमारा निश्चय होगा उतनी ही हमें सफलता मिलेगी। इसलिए कहा गया है कि "निश्चयात्मा विजयन्ती, संशय-आत्मा विनश्यति।"

निश्चय के रूप में ज्ञान की प्रेक्टीकल जीवन में धारणा

अब हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, कार्य-व्यवहार करते हुए इसी निश्चय में स्थित होना है कि—"मैं आत्मा हूँ, मैं कल्याणकारी, सुखदाता, शान्तिदाता, त्रिलोकीनाथ, सर्वशक्तिमान्, ज्योतिस्वरूप परमपिता परमात्मा की ज्योतिस्वरूप सन्तान हूँ। मैं यह शरीर नहीं हूँ। यह शरीर तो मेरा रथ है जिस पर मैं सवार हूँ मैं स्वयं तो ब्रह्मलोक का रहने वाला एक 'ज्योति-बिन्दु', अविनाशी आत्मा हूँ और प्रारम्भ में तो मैं पवित्र, शान्तिमय और निर्विकारी था। मैं इस सृष्टि रूपी कर्म-क्षेत्र पर अपना अनादि-निश्चित पार्ट बजाने आया हूँ, आखिर मुझे यहाँ से वापस अपने शान्तिधाम चले ही जाना है। इसलिए यहाँ के धन-जन के साथ बरतते हुए भी मुझे इससे न्यारा और अनासक्त ही रहना है क्योंकि इनके साथ तो मेरा क्षणिक नाता है आखिर तो मुझे यह शरीर रूपी खाल यहीं उतार कर फिर ज्योति-बिन्दु रूप में वापस जाना ही है···।"

"···चूंकि मैं उस ज्योतिस्वरूप, व ज्योति-बिन्दु परमात्मा शिव की सन्तान हूँ अतः मुझे भी उनकी तरह कल्याणकारी ही कर्त्तव्य करने हैं। मैं किसी के प्रति भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, हिंसा आदि के भाव से कर्म नहीं करूँगा क्योंकि

मैंने अपना या अन्य किसी का अकल्याण तो करना ही नहीं है, कारण कि जो अन्य किसी का अकल्याण करता उसका तो अपना भी अकल्याण ही होता है। अतः अब इन वासनाओं और विकारों को छोड़कर, मैं घर में रहते हुए भी अपनी लगन ईश्वर से लगाऊँगा, हड्डी और माँस के पिंजर रूप शरीर से नहीं। अब तो मैं एकरस आनन्द और ईश्वर की याद की मस्ती में मस्त रहूँगा। मैं कर्त्तव्य तो करूँगा परन्तु परिणाम की चिन्ता या व्यथा से उपराम होकर शान्त रहूँगा क्योंकि मैंने तो अपने जीवन को हीरे-तुल्य बनाना है, उसे इस कलियुगी संसार की कौड़ियों के लिए गँवाना नहीं है...।"

"...मैं तो अब स्वरूप-निष्ठ होकर आने वाले बिनाश से सावधान होकर अपना तथा दूसरों का कल्याण करने का ही कर्त्तव्य करूँगा। अब जो ईश्वरीय ज्ञान तथा सहज राजयोग परमपिता परमात्मा सिखला रहे हैं, मैं उनमें स्थित होकर दूसरों का शुभ-चिन्तक हो, उनको भी पवित्रता और योग के मार्ग पर चलने का सुझाव दूँगा। मैं स्वयं कमल-पुष्प के समान पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए और योग-स्थिर होते हुए, दूसरों को भी योग-युक्त होने की प्रेरणा दूँगा। अब परमपिता परमात्मा जिस सतोप्रधान, सतयुगी, दैवी गुणों वाली सृष्टि की स्थापना करा रहे हैं, मैं भी उस सर्वोत्तम सेवा में तन-मन और धन से सहयोगी बनूंगा...।"

—o—

दिनचर्या पर ध्यान

अपने जीवन को ऊँचा अर्थात् हीरे-तुल्य बनाने के लिए मनुष्य को अपनी मनसा, वाचा और कर्मणा पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। उसे अपनी सारी दिनचर्या को सावधानी से चलाना चाहिए और आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिए। दिनचर्या पर ध्यान न देने से और अलबेला होकर चलने से ही मनुष्य का जीवन दिनों-दिन बिगड़ता जाता है और संस्कार खराब हो जाते हैं। अतः हम एक अच्छी दिनचर्या की रूप-रेखा बताते हैं।

१. अमृत बेले उठना

जैसे मकान की नींव सुदृढ़ होने से सारा मकान पक्का होता है वैसे ही अमृत बेला सारी दिनचर्या की नींव है। उस समय जिसकी स्थिति हो, उसका सारे दिन की मानसिक अवस्था पर प्रभाव पड़ता है। अतः वास्तव में प्रातः तीन या चार बजे उठना बहुत अच्छा है। उस समय एकान्त एवं शान्त वातावरण होता है। मन भी दिन-भर के कारोबार के सोच-विचार से फारिग़ (निवृत्त) और रात-भर की नींद के बाद ताज़ा तथा शान्त होता है। इसलिए उस समय ईश्वरीय याद और लगन में बैठने से मन सहज ही मगन हो जाता है और जीवन में बहुत ऊंची प्राप्ति होती है। प्रातः तीन बजे उठने के लिए भले ही एक-दो घण्टे की नींद को त्यागना पड़ता है, परन्तु इस त्याग से लाभ हजारों गुणा ऊँचा है। परन्तु फिर भी यदि कोई व्यक्ति नित्य-प्रति उस समय उठ नहीं सकता तो उसे प्रातः ४-०० बजे तो अवश्य उठना ही चाहिये। आख़िर इतनी ऊँची कमाई के लिए कुछ तो समय निकालना ही चाहिए। वास्तव में देखा जाय तो थोड़े दिनों के अभ्यास से इस समय उठना सम्भव भी है।

२. अमृत वेले सबसे पहला संकल्प और सबसे पहली स्मृति

एक अच्छे पुरुषार्थी का नित्य-प्रति यह अभ्यास होना चाहिए कि जैसे ही आँख खुले सबसे पहले उसके मन में परमपिता परमात्मा की

स्मृति आये। उसे दिन-भर में चाहे कितने ही कार्य-व्यवहार क्यों न करने हों, परन्तु उसे यह बात तो अपने स्वभाव में ज़रूर अपना लेनी चाहिए कि प्रात: अमृत बेले जागते ही उसे सबसे पहले और कोई संकल्प न आकर परमपिता परमात्मा ही की स्मृति आये और यह विचार आये कि…"मैं एक आत्मा हूँ।" इस संकल्प में कोई अधिक समय नहीं लगता, परन्तु इसका प्रभाव सारी दिनचर्या पर रहता है। उसे चारपाई से तुरन्त नहीं उठ जाना चाहिये और न ही उसे किसी कार्य में तुरन्त लग जाना चाहिये वल्कि वहीं बैठ कर पहले ५-८ मिनट तक इसी स्मृति में टिकना चाहिए कि –"मैं एक ज्योति-विन्दु रूप आत्मा हूँ। मैं ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, प्रेम के सागर परमपिता परमात्मा शिव की सन्तान हूँ। वह परमपिता सबके कल्याणकारी, सुखदाता और शान्तिदाता हैं; मैं भी उनकी तरह दूसरों को सुख देने और कल्याण करने के निमित्त बनूंगा। मैं परमधाम से ही इस सृष्टि-मंच पर आया था और वास्तव में मैं तो परमधाम अथवा ब्रह्मलोक ही का वासी हूँ जहाँ पवित्रता और शान्ति का ही वातावरण रहता है। यहाँ आने के वाद सतयुग और त्रेतायुग में मेरा जीवन पवित्र, दैवी और सम्पूर्ण सुख-शान्ति-सम्पन्न अर्थात् सोने तुल्य और चाँदी-तुल्य था। यहाँ राज्य-भाग्य प्राप्त था और कोई दु:ख न था। द्वापर युग तथा कलियुग में मैंने खूब भक्ति की और थोड़ा वहुत सुख भी भोगा। अब इस संगम युग में मैंने ईश्वरीय ज्ञान द्वारा अलौकिक जन्म लिया है। अब मैं जान चुका हूँ कि मैं परमपिता परमात्मा शिव की सन्तान (अमर पुत्र) हूँ अर्थात् मैं एक ज्योति-बिन्दु रूप अशरीरी आत्मा हूँ और अव मुझे शीघ्र ही परमधाम वापस जाना है। अहा, कितने सौभाग्य की वात है कि अब मैंने परमपिता परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ा है ! निराकार परमपिता परमात्मा ही मेरे पिता, शिक्षक और सद्गुरु हैं, जोकि मुझे इस मृत्यु-लोक से उस पार अपने शान्तिधाम में और बाद में वैकुण्ठ में ले जा

रहे हैं। अहा, अब मैं प्रजापिता ब्रह्मा की मुख-वंशावली, सच्चा ब्राह्मण अर्थात् पावन वत्स या ब्रह्माकुमार बना हूँ और इस ईश्वरीय ज्ञान तथा राजयोग द्वारा अपने जीवन को कमल फूल के समान पावन बनाकर हीरे तुल्य बन रहा हूँ !"

इस प्रकार थोड़ा समय ज्ञान के इन मधुर रहस्यों का मनन करके, फिर शौच इत्यादि से निवृत्त होना चाहिये और नहा-धोकर विशेष रूप से ईश्वरीय स्मृति में बैठना चाहिये और फिर समय पर किसी भी निकट के ईश्वरीय सेवा-केन्द्र पर ज्ञान-कक्षा (Class) में जाना चाहिए। इसे अपने जीवन का आवश्यक कार्य बल्कि इसे ज्ञान-रत्नों की अतुल कमाई का साधन समझ कर तथा अपने जन्म-जन्मान्तर के लिए सम्पूर्ण सुख-शान्ति का सहारा मानकर तथा आत्मा का स्नान या भोजन मानकर बहुत जरूरी समझना चाहिए।

३-प्रतिदिन ज्ञान-कक्षा में जाकर ज्ञानयोग का अभ्यास करना

वहाँ क्लास में पहले अपने मन को निराकार, ज्योति-स्वरूप, बिन्दु-रूप, परमधाम के वासी परमात्मा शिव की स्मृति में स्थित करके शान्ति, शक्ति, प्रकाश और पवित्रता के अनुभव में स्थित रहना चाहिए। उस एकटिक याद में बहुत ही आनन्द है और उससे आत्मा में बल भरता है तथा सारा दिन एक अलौकिक खुशी तथा उत्साह बना रहता है। फिर क्लास में जो ईश्वरीय ज्ञान सुनाया जाय उसे बहुत भावना से सुनना चाहिए, उसमें से मुख्य बातें अपनी नोटबुक (Note Book) में एक विद्यार्थी की तरह नोट करनी चाहिये और समय पर उनको पुनः देखना (दुहराना) चाहिए। परमपिता परमात्मा शिव की वाणी अथवा ज्ञान में जो भी शिक्षा अथवा सावधानी मनुष्य-मात्र के लिए दी गई हो, उसे स्वयं पर लागू करके देखना चाहिए और यही दृष्टिकोण रखना चाहिए कि हमें अपने अवगुण-रूपी पत्थर निकाल कर अपने जीवन में गुणों-रूपी रत्नों को भरना है। यह धारणा सदा बनी ही रहनी चाहिए। केवल ज्ञान-श्रवण के

समय ही स्वयं को ईश्वरीय ज्ञान का विद्यार्थी नहीं मानना चाहिए बल्कि बाद में भी स्वयं को परमात्मा की एक सन्तान तथा ईश्वरीय विद्या का एक विद्यार्थी और देवपद की प्राप्ति का एक पुरुषार्थी मानते हुए अपने जीवन को सदा ऊँचा उठाने का और लोक-संग्रह का ध्यान रखते हुए दूसरों के आगे प्रैक्टीकल रीति आदर्श के रूप में चलने का पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

४. भोजन कैसा होना चाहिए और भोजन करते समय स्थिति कैसी होनी चाहिए ?

प्रतिदिन परमपिता परमात्मा के महावाक्य सुनने के पश्चात् ज्ञान-श्रवण (Class) से लौटने के बाद घर के कार्य-व्यवहार को करना होता है तथा नाश्ता या भोजनादि करके अपने सांसारिक कर्त्तव्यों में लगना होता है। परन्तु भोजन करते समय भी उसे ईश्वरीय मस्ती तथा ईश्वरीय गुणों के मनन में तो रहना ही चाहिए। भोजन भी सात्त्विक और शुद्ध ही लेना चाहिए और भोजन करते समय इसी स्मृति में रहना चाहिए कि यह तो परमात्मा के भण्डारे से मैं प्रसाद अथवा शिव-भोग ही ले रहा हूँ। इससे मेरा मन सात्त्विक होगा और मेरा शरीर ईश्वरीय सेवा में तथा अपने कर्त्तव्य निभाने में ठीक रहेगा। भोजन में आसक्ति नहीं रहनी चाहिए और भोजन करते समय अनावश्यक बातें नहीं करनी चाहिये बल्कि आत्मा के स्वरूप में स्थित होकर, प्रभु के प्रेम में टिक कर साक्षी भाव से भोजन करना चाहिए।

५. कार्य-व्यवहार करते समय मन की अवस्था पर ध्यान रखना

कार्य-व्यवहार में रहते हुए भी यही स्मृति रखनी चाहिए कि "अब तो मैं सर्व भाव से परमपिता परमात्मा ही का हूँ। यह सब उन्हीं का है। मैं तो केवल निमित्त (Trustee) हूँ। उनके इस कार्य में मुझे किसी प्रकार का अहंकार न करना चाहिए। मुझे काम, क्रोध, लोभ, मोह या अहंकार के वश होकर इस कार्य को अपवित्र

नहीं करना है बल्कि सभी के साथ शुद्ध प्रेम, शान्ति, पवित्रता और मैत्री-भाव से बरतना है।" दैनिक कार्य को इस सृष्टि रूपी विराट् नाटक का खेल समझकर ही करना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति किसी नाटक में राजा का पार्ट करता है, परन्तु फिर भी उसे यह स्मृति रहती है कि -"मैं वास्तव में राजा नहीं हूँ, बल्कि अमुक स्थान पर मेरा घर है और मैं अमुक व्यक्ति का बेटा हूँ, राजा के रूप में तो मैं वेष-भूषा धारण करके कुछ समय के लिए ही पार्ट बजा रहा हूँ," वैसे ही हरेक ज्ञानवान आत्मा को याद रखना चाहिए कि— "भले ही मैं अभी दूकानदार अथवा अफ़सर अथवा व्यापारी के रूप में कर्त्तव्य कर रहा हूँ, परन्तु यह तो मेरा अल्प काल का पार्ट है। मैं तो वास्तव में इन सबसे न्यारी एक आत्मा हूँ, ज्योति-बिन्दु हूँ। मैं तो परमधाम में रहने वाला हूँ और परमपिता परमात्मा की सन्तान हूँ। यह मित्र-सम्बन्धी अथवा लेन-देन करने वाले भी वास्तव में आत्माएँ ही हैं जो कि पार्टधारी हैं।" इस प्रकार याद करने से अवस्था अव्यक्त न्यारी और प्यारी होगी।

६. हर प्रकार की स्थिति में सन्तुष्ट और उपरामचित्त

आजकल के साँसारिक जीवन के कार्य-व्यवहार में कई प्रकार के विघ्न और कई प्रकार की कठिनाइयाँ तो आती ही हैं और हानि-लाभ अथवा हर्ष-शोक की परिस्थितियाँ भी आती ही हैं, परन्तु ज्ञान-वान मनुष्य का कर्त्तव्य है कि इनमें स्वयं से जो हो सके वह पुरुषार्थ करने के बाद जो परिणाम हो, उसे अपने किये कर्मों की 'प्रारब्ध' अथवा 'भावी' मानकर सदा सन्तुष्ट और उपरामवृत्ति से रहे और इसे एक नाटक की न्याईं जानकर इसकी हर्ष-शोक की परिस्थितियों से सदा न्यारा होकर रहे।

परन्तु यह सब तभी सम्भव होगा जब कार्य-व्यवहार करते समय भी वह परमपिता परमात्मा की स्मृति में टिका रहेगा। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि कार्य-व्यवहार करते समय मेरा मन

परमपिता परमात्मा की स्मृति में नहीं टिक सकता। वास्तव में तो हम हैं ही प्रभु की सन्तान और उन्हीं के पास ही हमें जाना है और उन्हें ही अपने कर्मों का हिसाब-किताब देना है, तो उनकी याद हमें क्यों नहीं करनी चाहिए जबकि उनकी याद में रहने से ही सदा के लिए कल्याण होता है, तो उनकी याद हमें क्यों भूलती है ? उनसे ही तो हमारा अत्यन्त स्नेह और प्यार होना चाहिए क्योंकि वही हमारे प्राणों को काल के पञ्जे से छुड़ाने वाले, हमें सदा सुख और शान्ति देने वाले और मुक्तिधाम तथा जीवन्मुक्तिधाम ले चलने वाले परम सद्गुरु हैं। मनुष्य को उनकी याद भूलती तब है जब वह यह समझता है कि जो कार्य-व्यवहार मैं कर रहा हूँ, इसकी जिम्मेदारी मुझ पर है, इसका सम्बन्ध मुझसे है। अतः यह याद रखना चाहिए कि मैं तो निमित्त हूँ, ट्रस्टी हूँ और मेरा नाता तो परमपिता परमात्मा से ही है; बाकी सभी के साथ तो जो मेरे पिछले जन्मों का हिसाब-किताब रहा हुआ है, उसे ही मैं चुका रहा हूँ।

इस प्रकार का पुरुषार्थ करते-करते जब तक ईश्वरीय स्मृति परिपक्व हो तब तक उसका अभ्यास यह समझकर नहीं छोड़ देना चाहिए कि यह तो कठिन है, यह नहीं हो सकता। यदि बार-बार अपना स्वरूप और लक्ष्य भूल जाता है और मन परमपिता परमात्मा की स्मृति से हटकर संसार में फँस जाता है तो उसे देखकर निराश नहीं हो जाना चाहिए बल्कि यह सोचना चाहिए कि—"मेरे तो अज्ञान के संस्कार बहुत दृढ़ हो गए हैं, अतः मुझे तो अपने पुरुषार्थ को और भी तेज़ करना चाहिए। पुरुषार्थ को छोड़ने से तो सद्गति होगी नहीं। आखिर अपने जीवन को सुधारने के लिऐ यह पुरुषार्थ करना तो पड़ेगा ही। अतः अब जबकि संसार का विनाश निकट है और परिस्थितियाँ अति विकट हैं तो मुझे इस पुरुषार्थ में अच्छी तरह लग जाना चाहिए। स्व-स्थिति से ही तो परिस्थिति पार होगी।"

परिस्थिति देखकर तथा विनाश को निकट आता देखकर तो

मनुष्य को वैसे भी परमपिता परमात्मा की स्मृति बार-बार अथवा निरन्तर ही आती है। अतः जबकि ऐटम और हाइड्रोजन बम बन चुके हैं और अन्न-संकट, धन-संकट आदि की परिस्थितियाँ भी हम देख रहे हैं, तब तो हमें परमपिता परमात्मा की बहुत याद रहनी चाहिए। अतः यह बहाना नहीं बनाना चाहिए कि—"हमारी परिस्थितियाँ ठीक नहीं हैं, हमारे आस-पास का वायुमण्डल अनुकूल नहीं होता। आज-कल की परिस्थितियाँ तो हमारा ध्यान परमपिता परमआत्मा की तरफ नहीं खिंचवाती हैं।" तब भी यदि आपको,वायुमण्डल अनुकूल नहीं लगता तो उसे ठीक करना चाहिए न कि उसके अनुसार स्वयं भी ढल जाना चाहिए। जब कि एक अगरबत्ती सारे कमरे को सुगन्धित कर देती है तो आपका पुरुषार्थ, आपके योग की सुगन्धि, दिव्य-गुणों की खुशबू भी आज नहीं तो कल अवश्य सारे वायुमण्डल को सुगन्धित करके रहेगी—ऐसा आपको निश्चय करना चाहिए !

७. हर घण्टे में कम-से-कम पाँच-दस मिनट ईश्वरीय स्मृति में स्थित

यह सब पुरुषार्थ करने पर भी यदि आप बहुत अधिक समय ईश्वरीय स्मृति में स्थित नहीं हो सकते तो प्रारम्भिक दिनों में कोशिश करके हर घण्टे में पाँच-दस मिनट अवश्य ऐसे निकालने चाहियें जिनमें आपको विशेष रूप से अपने स्वरूप को विचारना चाहिए और परमपिता परमात्मा शिव को बहुत स्नेह और लगन से याद करना चाहिए। इतना तो कोई भी कर सकता है। जब किसी व्यक्ति को कोई डॉक्टर कहता है कि—"यह होम्योपैथिक औषधि हर दो घण्टे के बाद खाया करना।" तो वह व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के ख्याल से हर दो घण्टे के बाद याद करके उस दवाई को खाता ही है। तो जिस ईश्वरीय याद से मनुष्य जन्म-जन्मान्तर के लिए सदा निरोगी, सदा स्वस्थ और सदा सुखी और अतुल धन-धान्य सम्पन्न हो जाता है, उसका प्रयोग करना भी तो नहीं भूलना चाहिए।

हम प्रायः देखते हैं कि जिन व्यक्तियों को पान खाने की आदत होती है अथवा अन्य किसी वस्तु की आदत पड़ जाती है, वे भी हर दो घण्टे में उसे याद कर उसका सेवन करते हैं, तो क्यों न हम भी ईश्वरीय स्मृति की शुद्ध आदत स्वयं को डाल लें ? इस आदत पर तो कुछ खर्च भी नहीं होता बल्कि और अधिक स्थायी आनन्द की प्राप्ति होती है।

वैसे भी दिन-भर में बहुत-से कार्य ऐसे होते हैं जिनमें हमें अपनी बुद्धि को पूरी तरह नहीं लगाना पड़ता। उन कार्यों को करते समय, यदि हम चाहें तो परमपिता परमात्मा की स्मृति में रह सकते हैं। चलते-फिरते या अन्य कोई कार्य करते समय परमात्मा की स्मृति का अभ्यास भी चलता रह सकता है। परन्तु आज मनुष्य इस बात पर ध्यान ही नहीं देता और ऐसे कार्य करते समय व्यर्थ के संकल्प करता है। कार्य के अलावा जो थोड़ा-थोड़ा समय बीच-बीच में हमें मिलता है, यदि उसका भी ईश्वरीय स्मृति के लिए सदुपयोग करें तो सारे दिन-भर में हमारे योग का चार्ट काफ़ी अच्छा हो सकता है। अतः परमपिता परमात्मा कहते हैं कि—"हे वत्स, यदि मुझ पिता को तुम सारा समय नहीं दे सकते तो कम-से-कम जिस समय को आप चिन्ता में या व्यर्थ चिन्तन में लगा कर अपना अकल्याण करते हो, कम-से-कम उस समय को तो मेरी स्मृति में लगाओ। सारे दिन-भर में यदि आप आठ घण्टे व्यवहार और कारोबार में खर्च करते हैं और शेष आठ घण्टे आराम, नींद, स्नान आदि में खर्च करते हैं, तो भी आपको शेष आठ घण्टे तो मेरी स्मृति में टिक कर अपना कल्याण तो करना ही चाहिए।"

८. सायंकाल में पुरुषार्थ

इस प्रकार अपने दिन के कारोबार को समाप्त करने के बाद, अर्थात् दुकान से या दफ़्तर से लौटने के बाद, कुछ आराम करके अथवा घर का कार्य करके, मुँह-हाथ धोकर कछुए की तरह अपनी

कर्मेन्द्रियों को समेट कर पुनः विशेष रूप से अलग अथवा सभी घर-वालों के साथ, परमपिता परमात्मा की स्मृति में बैठना चाहिए। इस तरह का अभ्यास न करने से तो मन सारा दिन बे-लगाम घोड़े की तरह इधर-उधर भटकता ही रह जाता है। जो मनुष्य बार-बार शरीर-भान से न्यारा होकर, अपने मन को समेटकर उस परमपिता परमात्मा की स्मृति में टिकाने का पुरुषार्थ करता है, वही योग की सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

सायंकाल के योग का भी एक विशेष प्रकार का प्रभाव रहता है। इससे पुनः मन ताज़ा और वृत्ति सात्विक हो जाती है। अतः सायंकाल याद में बैठने का भी अपना नियम बना लेना चाहिए।

फिर खाने-पीने के कार्य से तथा और भी जो कार्य हों उनसे निवृत्त होना चाहिए क्योंकि साँसरिक कर्त्तव्यों को निभाना भी अपना कर्त्तव्य है। परन्तु साँसारिक कर्त्तव्यों को निभाने का अर्थ व्यर्थ की गपशप लगाना या इधर-उधर की फ़ालतू बातों में समय गँवाना नहीं है। हाँ मनुष्य को मनोरंजन करने की आवश्यकता महसूस हो तो वह भी ऐसी होनी चाहिए जिससे कि कोई बुरा संस्कार न बने और बुरी आदत न पड़े।

यह सब करने के बाद रात्रि को ज्ञान-चर्चा करके, ठीक समय पर, लगभग दस बजे विश्राम के लिए तैयार हो जाना चाहिए। सोने से पहले कुछ समय अवश्य ही परमप्रिय परमपिता परमात्मा की स्मृति में बैठना चाहिए। याद करते-करते सो जाने से निद्रा भी सतोगुणी होती है और नींद में कोई भी दोष नहीं होते या बुरे संस्कार तंग नहीं करते।

दूसरी युक्ति

दिव्य-गुणों की धारणा

जीवन को हीरे-तुल्य बनाने का अर्थ है—"अपने जीवन में दिव्य-गुण धारण करना और आसुरी लक्षणों को छोडना, क्योंकि

अब जीवन में जो आसुरी लक्षण हैं, उन्हीं के कारण ही तो मनुष्य का जीवन कौड़ी-तुल्य और दुःखी बना है। दिव्य-गुणों की धारणा पर ध्यान दिये बिना मनुष्यात्मा का न तो परमपिता परमात्मा से निर्विघ्न रीति से योग लग सकता है और न ही मनुष्य योगी जीवन का अलौकिक आनन्द लूट सकता है। अतः इस जीवन में सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिए तथा भविष्य में भी सदा-सुखी दैवी जीवन प्राप्त करने के लिए अभी से दिव्य-गुणों की धारणा पर पूरा-पूरा ध्यान देना ज़रूरी है।

१. पवित्रता और जितेन्द्रियता

दिव्य-गुणों में पवित्रता सब से मुख्य है। पवित्र मनुष्य ही प्रभु के प्यार को प्राप्त कर सकता है। अतः परमपिता परमात्मा से प्रेम करने वाले मनुष्य को चाहिए कि अपने तन, मन और धन की पवित्रता पर पूरा ध्यान दे। उसे चाहिए कि तन और वस्त्रों को स्वच्छ रखे और जब-कभी दीर्घ शंका शौच से निवृत्त हो अर्थात् मल-विसर्जन करे, उसके बाद स्नान करके या कम-से-कम शरीर को गीले वस्त्र से स्वच्छ करके, स्वच्छ वस्त्र धारण करे और मन की स्वच्छता के लिए पवित्र भोजन करे। मन को निवृत्त रखे और विशेष बात यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करे। अपने जीवन को कमल-पुष्प के समान बनाना ही वास्तव में जीवन को पवित्र बनाना है। परन्तु अपने को एक कर्मयोगी समझने से, ईश्वरीय विद्या का विद्यार्थी मानने से, परम पावन परमपिता परमात्मा की सन्तान मानने से और श्री लक्ष्मी-श्री नारायण आदि देवी-देवताओं का वंशज मानने से ही जीवन में पवित्रता की धारणा हो सकती है वरना इसका अन्य कोई साधन नहीं है। अतः इस धारणा में रहते हुए हमें पवित्र रहना चाहिए और यदि मन में विक्षेपता आये भी तो भी कर्मेन्द्रियों द्वारा कोई बुरा कर्म नहीं करना चाहिए बल्कि हरेक कर्मेन्द्रिय को अपने पूर्ण कण्ट्रोल (नियन्त्रण) में रखना चाहिए।

हमें अब यह याद रखना चाहिए कि अब जबकि हमने ईश्वर से लगन लगाई है, इन आँखों द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह या अहंकार की दृष्टि से हम किसी को नहीं देख सकते, मुख द्वारा अपशब्द, निन्दा या विकारी बोल नहीं बोल सकते और इस प्रकार, किसी भी कर्मेन्द्रिय द्वारा किसी को भी दुःख देने का कर्म नहीं कर सकते वरना अब ज्ञान लेने के बाद यदि हमने कोई बुरा कर्म किया तो हमें सौ गुणा दण्ड भोगना पड़ेगा।

२. अन्तर्मुखता

यों तो हरेक दैवी गुण का अपना-अपना महत्त्व है। परन्तु फिर भी अन्तर्मुखता का महत्त्व तो बहुत अधिक है। मनुष्य को आत्मा के स्वरूप की पहिचान दी ही इसलिए जाती है कि वह अन्तर्मुखता का गुण धारण करे ताकि उसके जीवन में अलौकिक सुख और शान्ति आये। 'अन्तर्मुखता' को धारण करने का अर्थ है—"देह के अन्दर जो आत्मा है, उसके स्वरूप का तथा उसके पिता परमात्मा का मनन करना, कानों द्वारा आत्मा ही की उन्नति की बातें सुनना, मुख द्वारा उस ही की चर्चा करना, आँखों द्वारा अन्य मनुष्य को देखते हुए भी मन के आँखों से उन्हें 'आत्मा' के ही रूप में देखना। जो मनुष्य बाह्यमुखी होता है, अर्थात् जिसकी दृष्टि और वृत्ति अन्तरात्मा की ओर नहीं होती, उसका मन और उसकी कर्मेन्द्रियाँ सदा विषय-वासनाओं ही की ओर भागती हैं और वह व्यक्तियों तथा पदार्थों के नाम-रूप को देखकर मोहित, विचलित अथवा विकृत होता रहता है और इसलिए उसके पिछले विकर्मों का भी विनाश नहीं होता और आगे के लिए भी विकर्मों का खाता बनता ही रहता है। परन्तु जो मनुष्य-आत्मा परमपिता परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करके, मन को आत्मा के स्वरूप में तथा परमपिता परमात्मा की स्नेह-युक्त स्मृति में टिकाता है उसकी बुद्धि और वृत्ति बाहर के विषय पदार्थों में नहीं भटकती। इसलिए उस मनुष्य पर माया का बार नहीं होता।

बल्कि यदि कोई मनुष्य उससे मान-अपमान की या अपकार की वार्ता करता है या लोभ और क्रोधादि के लिए लालायित अथवा उत्तेजित करता है तो अन्तर्मुखी मनुष्य उसे सुनते हुए भी नहीं सुनता। क्योंकि वह तो एक न्यारे और ऊँचे सुख में टिका रहता है। अन्तर्मुखी मनुष्य को स्वरूप-स्थिति के अभ्यास द्वारा देह से न्यारा होने की जो टेर पड़ जाती है, वह उसके फलस्वरूप दुष्ट की दुष्टता और अपकारी के अपकार को ग्रहण नहीं करता। अतः उसे अशान्ति और दुःख नहीं छूते। अतः चूँकि अन्तर्मुखी मनुष्य न बुरा सुनता है और न बुरा बोलता है और न बुरा सोचता है और न बुरा करता है और न ही उस तरफ़ ध्यान देता है, इसलिए उसका मन-रूपी हंस भी शान्ति के सरोवर में सदा शीतलता के मोती चुगता रहता है। इसलिए अब हमें चाहिए कि हम भी हीरे-जैसे अनमोल गुण 'अन्तर्मुखता' को ग्रहण करके अपने जीवन को हीरे-तुल्य बनाएँ क्योंकि इससे ही जीवन में सहनशीलता आदि गुण भी आते हैं और जीवन दिव्य भी बनता है।

३. सहनशीलता

ज्ञान-मार्ग पर चलते-चलते अनेक प्रकार की जो विपरीत परिस्थितियाँ सामने आती हैं और लोगों से जो निन्दा या कटु आलोचना सुननी पड़ती है, उसे सहन करने में ही हमें अपना कल्याण मानना चाहिए क्योंकि यह हमारी ही परीक्षा के लिए आती हैं ताकि हम देख सकें कि हमारे मन में अभी क्रोध या आवेश के संस्कार तो नहीं हैं और परमपिता परमात्मा से हमारी लगन इतनी कच्ची तो नहीं है कि हम थोड़ी-सी कठिनाइयों के घेरे में फँस कर अपने लक्ष्य से हट जाते हैं। अतः हमें सब प्रकार की परिस्थितियों को परमात्मा के स्नेह में सहन करना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि—"जबकि लौकिक नातों में भी मनुष्य अपने मित्र-सम्बन्धियों के लिए अथवा किसी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ी-बड़ी

कठिनाइयाँ सहन कर लेता है तो क्या हम अपने परमप्रिय परमपिता परमात्मा के स्नेह के लिए अथवा अपने जीवन को ऊँचा उठाने तथा भविष्य में अतुल प्राप्ति करने के लिए थोड़ा-कुछ सहन नहीं कर सकते ?" हमारे मार्ग में तन, मन, धन की जो परीक्षायें अथवा विघ्न आयें, हमें यह सोचकर उन्हें खुशी-खुशी से सहन करना चाहिए कि—"यह तो हमारे अपने ही पूर्व कर्मों का प्रारब्ध के रूप में हमारे सामने आ रहे हैं, तो हम क्यों न एक बार इनका सामना करके सदा के लिए इनसे छुटकारा पा लें ?" हमें दूसरे के अवगुणों तथा बुरे कर्मों को देखकर स्वयं उत्तेजित या क्रोधान्वित नहीं होना चाहिए वल्कि सदा अपने इस लक्ष्य को सामने रखना चाहिए कि हमें तो अपना जीवन हीरे-तुल्य बनाना है, हमें तो गुण-ग्राहक बनना है, अवगुणों को तो अपने जीवन से निकालना है।

४. गुणग्राहकता

हमें यह सोचना चाहिए कि—"हरेक मनुष्य में अवगुण के अतिरिक्त कुछ तो गुण भी हुआ करते हैं, अतः मुझे उन गुणों ही को देखकर उन्हें अपने जीवन में धारण करना है। मैं दूसरों के अवगुणों का ग्राहक नहीं बनूँगा, वल्कि गुण रूपी रत्नों ही का ग्राहक बनूँगा। मनुष्य को यह तो मालूम नहीं कि किस क्षण उसके जीवन का अन्त हो जाय, अतः मैं दूसरे के दोषों का चिन्तन नहीं करूँगा ताकि कहीं मेरी दुर्गति न हो जाय। दूसरे मनुष्यों में जो दोष हैं, उनका दण्ड वह पायेंगे, मैं उन दोषों का चिन्तन करके दोषी और दुःख का भागी क्यों बनूँ ? मैं तो अब दूसरों के अवगुणों को न देख कर स्वयं सदा प्रफुल्लित और हर्षित रहूँगा। और उन्हें मीठी दृष्टि से देखूँगा और उनका शुभ-चिन्तक बनकर उनके दोष को दूर करने का प्रयास करूँगा, परन्तु स्वयं को उनके अवगुणों से दुःखी नहीं करूँगा। यदि मुझे दूसरे किसी का कोई दोष दिखाई दे भी जायेगा तो भी मैं अपने मन को टटोलकर देखूँगा कि किसी हद तक वह अवगुण मुझमें छिपा हुआ

है तो नहीं ? मैं तो परमपिता परमात्मा के गुणों का ग्राहक हूँ, मैं मनुष्यों के अवगुणों का ग्राहक नहीं हूँ। अवगुणों से तो मैं निकलना चाहता हूँ, फिर भला मैं उनके अवगुणों का दर्शन क्यों करूँ ? मैं तो अब प्रभु के अर्पण हो चुका हूँ और, इसलिए, अब अपने अवगुण लाने का पाप नहीं कर सकता।"

५. अर्पणमयता

अपने जीवन से विषय-विकारों और आसुरी गुणों को निकालने के लिए सबसे प्रमुख युक्ति है—"परमपिता परमात्मा के प्रति 'अर्पणमयता।' अब हम जैसे भी हैं, हमें इसी क्षण से लेकर यह समझना चाहिए कि—'मेरा तो कुछ भी नहीं बल्कि अब मैं अपना सब-कुछ, परमपिता परमात्मा शिव के अर्पण करता हूँ।" अब हमें यह निश्चय करना चाहिए कि—"अब मेरा तन, मन और धन सब परमपिता परमात्मा का ही है अर्थात् अब इन्हें मैंने उनकी बताई हुई आज्ञाओं के अनुकूल चलाना है।"

जो भी मनुष्य अपने जीवन को हीरे तुल्य बनाना चाहता है, उसे चाहिए कि अपना कौड़ी-तुल्य जीवन परमात्मा के अर्पण करके अब सब-कुछ ईश्वर की अमानत समझे और उसे पवित्र आचरण से, अर्थात् निर्विकारी रीति से कर्त्तव्य-पालन में तथा ईश्वरीय सेवा में लगावे। इस तरीके से मनुष्य अपने तन, मन और धन की ममता मिटा सकता है और अपने सम्बन्धियों में जो मोह है वह भी हटा सकता है। वरना, मनुष्य की बुद्धि अपने तन, मन, धन् और सम्बन्धियों की तरफ़ जाती रहेगी और वह ईश्वरीय स्मृति में स्थिति नहीं प्राप्त कर सकेगा। अतः घर, सम्बन्धियों और धन में ममता और मोह को मिटाने के लिए जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इन्हें परमपिता परमात्मा ही के 'अर्पण' करके स्वयं को निमित्त (ट्रस्टी) मानना ही सर्वश्रेष्ठ युक्ति है। इससे मनुष्य के जीवन से विकार और कड़वापन मिट जाता है और उसके स्थान पर पवित्रता तथा मधुरता आती है।

६. मधुरता

ईश्वरीय ज्ञान द्वारा जीवन में मधुरता आना स्वाभाविक है क्योंकि यह ज्ञान है ही माया के कड़वेपन अथवा विष को निकालने के लिए। परन्तु यह मधुरता तभी आ सकता है जब मनुष्य इस सृष्टि को एक विराट् नाटक की दृष्टि से साक्षी होकर देखे और यह समझे कि—"बनी-बनाई ही बन रही है और सब अपने-अपने विभिन्न संस्कारों ही के अनुसार अपना पार्ट बजा रहे हैं।" इस रहस्य को समझने से मनुष्य दूसरों से कड़वा नहीं बोलता बल्कि उनके कल्याण के विचार से उन्हें भी ज्ञान के मधुर बोल, दिव्य-गुणों की मीठी-मीठी बातें और परमपिता परमात्मा के मधुमय चरित्र ही सुनाता है और स्वयं भी गद्‌गद् होता है तथा दूसरों को भी इससे आनन्दित करता है।

वह दूसरे मनुष्यों पर कड़वे शब्द-रूपी पत्थर नहीं मारता, बल्कि ज्ञान के मधुर बोल-रूपी पुष्पों से उनकी झोली भर देता है। मनुष्य के स्वभाव में कड़वापन तो विकारों ही के कारण होता है। वह उसे अपना शत्रु, अपकारी, अकल्याणकारी अथवा हानि-कारक मानता है। परन्तु जब वह मनुष्य ज्ञान के इस अनमोल रहस्य को समझ जाता है कि आत्मा का शत्रु तो उसके अपने ही बुरे कर्म अथवा विकार हैं जो दूसरों के द्वारा प्रारब्ध के रूप में सामने आते हैं तो वह दूसरों को अपना शत्रु नहीं मानता बल्कि अपने ही कर्मों को श्रेष्ठ बनाने की कोशिश करता है और स्वयं में ही प्रेम, सद्भावना और सद्‌गुण लाकर माया रूपी शत्रु को सदा के लिए जीतने का पुरुषार्थ करता है। वह अपनी मधुरता से दूसरों को भी आकृष्ट करके ईश्वर की ओर उनका ध्यान खिचवाने का प्रयत्न करता है।

७. हर्षितमुखता

ज्ञान लेने के बाद और यह निश्चय करने के बाद कि—"मैं तो त्रिलोकीनाथ, सर्वशक्तिमान्, पतित-पावन, शान्ति और आनन्द के

सागर, स्वर्ग के राज्य-भाग्य विधाता, परमपिता परमात्मा शिव की सन्तान हूँ," हमारे मुख पर कभी भी शोक अथवा चिन्ता के चिन्ह नहीं आने चाहिएँ जबकि सर्व-समर्थ परमपिता, परमशिक्षक और परम सद्गुरू परमात्मा हमें शान्ति-धाम और वैकुण्ठ में ले चल रहे हैं तो हमारे हर्ष का पारावार नहीं रहना चाहिए। जबकि हम पवित्र और योग-युक्त बन रहे हैं और अपने भाग्य को भी बहुत ऊँचा बना रहे हैं तब तो चिन्ता अथवा शोक की बात ही क्या रह जाती है। यदि हमारे सामने कोई दुर्घटना, कोई रोग, कोई हानि आदि की परिस्थितियाँ आती भी हैं तो भी ज्ञान के आधार पर हमें यही सोचना चाहिए कि यह तो हमें आखिरी सलाम करने आई हैं। अब तो यह हमारा पीछा छोड़ने ही वाली हैं, क्योंकि अब हमने योग-बल द्वारा इनका अन्त करने का तरीका समझ लिया है। अतः यह सोचकर कि अब तो हमारे कर्मों का लेखा-जोखा समाप्त हो रहा है, हमारा ऋण हमारे सिर से उतर रहा है, हमें सदा हर्षित ही रहना चाहिए। चिन्ता तो केवल यही होनी चाहिए कि अब हमें स्वयं को तथा अन्य मनुष्यों को भी पवित्र और योग-युक्त बनाना है। जिसे यह शुभ-चिन्ता अथवा लगन लग जाती है, उसके पास और चिन्ता के लिए भला समय ही कहाँ है ? जो मनुष्य ज्ञान का चिन्तन करता रहता है, उसकी बुद्धि में दूसरी चिन्ता आने का अवकाश ही कहाँ है ? वह तो ईश्वर के एक बल और एक भरोसे पर टिक कर, निश्चिन्त और निर्भय होकर पुरुषार्थ में तत्पर रहता है और अतीन्द्रिय सुख पाता है।

८. निर्भयता

जो मनुष्य सच्चे दिल से परमपिता परमात्मा का सहारा लेता है और अपना तन, मन और धन उसी के अर्पण कर देता है, उसे भला किसका भय हो सकता है ? जो व्यक्ति दूसरे का सदा शुभ सोचता है और अन्य लोगों की ईश्वरीय सेवा में लगा रहता है, उसे भला भय कैसे हो सकता है ? भय उसको होता है जो स्वयं को 'आत्मा'

निश्चय न कर 'देह' मानता हो अथवा जिसकी किसी वस्तु में ममता हो। वरना, सर्वशक्तिमान् परमात्मा की शरण लेने वाला व्यक्ति अडोलचित्त और निर्भय होकर विचरता और ज्ञान के इसी मधुर रहस्य के मनन-चिन्तन में रहता है कि-- "जो कुछ होना है वह तो होकर ही रहेगा और होगा भी वही जो मेरे पूर्व कर्मों का फल होगा, इसलिए मुझे किसी भी परिणाम से भयभीत न होकर अपने कर्त्तव्य को ठीक रीति से करते रहना चाहिए और शेष के लिए रक्षक परम-पिता परमात्मा ही की सहायता पर निर्भर रहना चाहिए और साक्षी होकर कर्त्तव्य करते चले जाना चाहिए।"

६. साक्षी

साक्षी होकर जीवन व्यतीत करने से ही जीवन प्यारा और न्यारा बनता है। साक्षी अवस्था में ही मनुष्य का निर्णय और विवेक ठीक काम करता है। साक्षी मनुष्य पर हर्ष-शोक अथवा मान-अपमान की परछाईं नहीं पड़ती। साक्षी मनुष्य इसी जीवन में भी जो आनन्द ले सकता है, वह करोड़पति व्यक्ति भी नहीं ले सकता।

परन्तु मनुष्य की अवस्था साक्षीपन की तभी हो सकती है जब वह इस संसार को इस प्रकार देखे जैसे कि यह एक विराट् नाटक धीरे-धीरे चल रहा है और इसमें भिन्न-भिन्न नाम-रूप वाले ऐक्टर एक बनी-बनाई योजना के अनुसार अपना-अपना पार्ट अदा कर रहे हैं और वह उन्हें साक्षी होकर देख रहा है। वह अपने जीवन में आने वाली घटनाओं को भी नाटक की घटनायें समझ स्वयं (आत्मा) को भी उनका साक्षी माने, तभी वह सदा आनन्द की स्थिति अथवा सदा नारायणी नशे में रह सकता है। साक्षी अवस्था में मनुष्य के मन में हर वृत्तान्त आने के बाद यही विचार आता है कि "यह पार्ट तो मैंने असंख्य बार देखा अथवा किया है और यह तो भावी बन रही है और जो जैसा पुरुषार्थ कर रहा है, उसके प्रारब्ध की वैसी फिल्म बन रही है, जो कि आगे चल कर उसके सामने आवेगी।" वह न्यारा

होकर अपने तथा दूसरों के पार्ट को देखता है। मित्र-सम्बन्धियों के साथ बरतते हुए भी उसके मन में सदा यही रहता है कि—"यह तो इस विराट् नाटक में सह-पार्टधारी हैं। हैं तो यह भी 'आत्माएँ' ही परन्तु शरीर-रूपी वेश-भूषा धारण करके यह कुछ समय के लिए मेरे साथ पार्ट बजा रही हैं। जब इनका मेरे साथ पार्ट समाप्त हो जाएगा तो हम और यह बिछुड़ जायेंगे और अब तो वह दिन आने ही वाला है जबकि इस नाटक का अन्त ऐटम और हाइड्रोजन बमों के धमाकों के साथ होने ही वाला है और हम सभी अपना नाटक पूरा करके परमधाम को लौटने वाले हैं।" अतः वह ऐसा अनुभव करता है कि अब जो पार्ट चल रहा है, यह तो अन्तिम पार्ट है, इसके बाद तो यह खेल खत्म ही है। इस विचार से उसकी बुद्धि इस संसार के विषय-पदार्थों से हट कर सिमट जाती है और उसके पाँव मानो इस धरती से उठ जाते हैं और वह ऐसा अनुभव करता है कि अब तो उसके जीवन-रूपी जहाज का लंगर इस संसार-तट से उठ चुका है और वह उस पार जा रहा है। वह नम्र स्वभाव से अपने जीवन को उच्च बनाने में ही लगा रहता है।

१०. नम्रता

ज्ञानवान मनुष्य अपने जीवन पर ध्यान देने के कारण जानता है कि अभी तो उसे स्वयं में से कई त्रुटियाँ निकालकर अच्छे गुण भरने हैं और परमपिता-परमात्मा की निरन्तर स्मृति में स्थिति प्राप्त करने का काफ़ी अभ्यास करना है। अतः वह यह देखकर कि वह स्वयं भी सम्पूर्ण नहीं हुआ, वह दूसरों से भी नम्रता से व्यवहार करता है। वह जानता है कि दूसरे भी अपने संस्कारों के वश हैं और उन्हें भी उन्नति करने में अभी समय लगेगा। वह उनकी कमियों को देख स्वयं का अहंकार नहीं करता और उनसे रुष्ट नहीं होता अथवा उनसे घृणा नहीं करता बल्कि उन्हें भी उन संस्कारों के बन्धन से निकाल कर आगे बढ़ाने की भावना से अपने स्नेह का सहारा देता है

और यदि कोई उसे उसकी भूल बताता है तो वह उसे बुरा न मनाकर उसे अपनी उन्नति के लिए लाभकारी मानता है और उस व्यक्ति को अपना शुभ-चिन्तक समझता है।

यदि कोई अपमान करता है अथवा बात नहीं मानता तो ज्ञानवान मनुष्य अपना अभिमान नहीं दिखाता क्योंकि वह जानता है कि अन्य व्यक्ति जो-जो खोटे कर्म कर रहा है, वह उसे स्वीकार नहीं हैं और वह मनुष्य अपने किये का फल स्वयं पायेगा। वह स्वयं अपने मन में घृणा, अहंकार या कुटिलता नहीं लाता बल्कि सरलता ही से व्यवहार करता है।

११. सरलता

मनुष्य के, मन की सरलता और सच्चाई पर ही सच्चा साहिब परमात्मा राजी होता है। मनुष्य जितना सच्चा, सरल स्वभाव और निष्कपट और स्पष्ट होता है, उसे परमपिता परमात्मा के स्वरूप का अनुभव भी उतना ही स्पष्ट होता है। मनुष्य के मन की सरलता ही परमात्मा को भी उसकी ओर खींचती है तथा अन्य मनुष्यों को उसकी ओर आकृष्ट करती है। इसलिए सरलता ही ज्ञानवान मनुष्य का गुण है क्योंकि सरलता के बिना तो जीवन में ज्ञान की धारणा हो नहीं सकती और सच्चे आत्मिक सुख का अनुभव भी नहीं हो सकता।

१२. दृढ़ता, आत्म-विश्वास और पुरुषार्थ में तीव्रता

यह सोच कर कि "अभी तो मैं पुरुषार्थी हूँ, इसलिए कुछ भूल हो जाती है," हमें यह भूल नहीं करते रहना चाहिए, बल्कि अब हमें यह सोचना चाहिए कि पुरुषार्थी का अर्थ तो यह है कि विकारों को जीतने, कर्मेन्द्रियों को कन्ट्रोल में रखने तथा योग-युक्त रहने की हम पर पूरी जिम्मेदारी है। इस प्रकार फिर भी यदि कभी हम से भूल हो जाती है तो हमें दृढ़ संकल्प लेना चाहिए कि अब के बाद हम से यह भूल फिर न होगी। केवल दृढ़ संकल्प ही नहीं लेना है बल्कि आत्म-विश्वास से पुरुषार्थ में तीव्रता भी लानी है।

ऊपर कुछेक दिव्य-गुणों* का उल्लेख किया गया है जिनको धारण करके हमें अपने जीवन को हीरे-तुल्य बनाना है। इन गुणों के अतिरिक्त हमें मृदुता, गम्भीरता, सन्तोष, दया, धैर्य और दूसरों के प्रति शुद्ध प्रेम तथा शुभ भावना इत्यादि सद्‌गुण भी अपने जीवन में लाने चाहिएँ। यह पुरुषार्थ कठिन नहीं है।

तीसरी युक्ति

नियमों का पालन

अपने जीवन को हीरे-तुल्य बनाने के लिए, कर्मों को श्रेष्ठ बनाने के लिए अथवा इस जीवन में योग का आनन्द लूटने के लिए और बाद में भी मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति के लिए हमें उन नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए, जिनके लिए अब स्वयं परमपिता परमात्मा शिव ने हमें प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा आज्ञा दी है। उन नियमों का पालन किये बिना न तो हम ज्ञान और योग के मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं, न हम सच्ची शान्ति प्राप्त कर सकते हैं और न ही हम आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य का पालन

उन नियमों में से पहला नियम है—'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना न तो ईश्वरीय स्मृति में स्थिति प्राप्त हो सकती है। और न ही क्रोधादि अन्य विकार शान्त हो सकते हैं। ब्रह्मचर्य से ही मनुष्य की बुद्धि स्वच्छ होती है और मनुष्य में वह आध्यात्मिक शक्ति आती है जिससे वह अन्य विकारों को जीत सकता है अथवा उनका सामना कर सकता है। अतः 'काम वासना' को महा शत्रु मानकर और ब्रह्मचर्य को ही अपना मित्र जानकर हमें 'काम' विकार का बहिष्कार और मनसा, वाचा और कर्मणा ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन

*दिव्य गुणों के सविस्तार अध्ययन के लिए 'दिव्य गुणों का गुलदस्ता' नामक पुस्तक पढ़िये।

करना चाहिए। हमें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि पावन को पतित करने वाला अथवा देव-पद से गिराकर नरक में धकेलने वाला शत्रु काम ही है। यही मनुष्य के स्वास्थ्य को और उसकी आयु को नष्ट करने वाला और उसे कायर तथा कमज़ोर बनाने वाला है।

अतः अब हमें सम्बोधित करके हमारे ही कल्याण के लिए परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं—"हे वत्स, जन्म-जन्मान्तर तो आप अपने लौकिक माता-पिता से विकारों की नकल करते आये हो परन्तु इन्हीं विकारों से तुम सतयुगी सुखमय जीवन और दैवी राज्य-भाग्य गँवा बैठे हो। इसी विकार के कारण ही तुम महा दुःखी हुए हो। अतः अब तो आप इस जन्म में मुझ परमपिता से पवित्रता की विरासत ले लो। हे वत्स, तुम जन्म-जन्मान्तर तो मुझसे प्रार्थना करते आये हो कि—"हे पतित पावन परमात्मा, हमें इन विषय-विकारों से छुड़ाओ," परन्तु आश्चर्य की बात है कि अब जबकि मैं तुम्हें इनसे छुड़ाने के लिए परमधाम से आया हूँ तो तुम इन्हें छोड़ते ही नहीं हो ? मैं तो तुमसे महा खराब चीज़ ही छोड़ने को कहता हूँ परन्तु तुम इसे दृढ़ता से पकड़ कर बैठे हो ? क्या तुम काम-रूपी मगरमच्छ पर सवार होकर भवसागर से पार होने की आशा लगाये बैठे हो ?

अब संकट कालीन परिस्थिति है इसलिए पवित्र बनो ?

कल्याणकारी परमपिता शिव कहते हैं—"हे वत्स, वर्त्तमान परिस्थिति संकट कालीन परिस्थिति (Emergency) है। अब इस कलियुगी सृष्टि का महाविनाश निकट है। अब इस अन्तिम जीवन का थोड़ा समय शेष है। अब मेरी आज्ञा (Ordinance) है कि पवित्र बनो, ब्रह्मचर्य का पालन करो और काम रूपी महा शत्रु को मत घुसने दो, क्योंकि अब मुझे यहाँ सतयुगी श्री लक्ष्मी श्री नारायण का दैवी स्वराज्य स्थापित करना है अथवा अब मुझे इस सारे भारत को वेश्यालय से शिवालय अथवा देवालय बनाना है। हे वत्स, अब इस सृष्टि के महा विनाश से भी सब विकार छूट तो जाने ही हैं, परन्तु

यदि तुम स्वेच्छा से तथा योग की लगन में ब्रह्मचर्य का पालन करोगे तो आने वाले दैवी स्वराज्य में जन्म-जन्मान्तर के लिए पवित्र एवं दैवी राज्य-भाग्य के भागी बनोगे। हे वत्स, तब क्या तुम इस थोड़े समय के लिए महाविकार को नहीं छोड़ सकते ? क्या तुम मेरे लिए इतनी भी कुरबानी नहीं कर सकते ? क्या तुम्हारी इतनी भी प्रीति नहीं है कि थोड़े-से समय के लिए इस गन्दी आदत को छोड़ दो ?

भगवान् शिव कहते हैं—"हे वत्स, जिस प्रकार आज आप गृहस्थ चला रहे हो, उसे 'गृहस्थ आश्रम' नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'आश्रम' पवित्र स्थान को कहते हैं जबकि इस कलियुग में तो घर-घर में काम कटारी द्वारा हिंसा और भ्रष्टाचार हो रहा है। हे वत्स, सच्चे अर्थ में 'गृहस्थाश्रम, तो श्री लक्ष्मी-श्री नारायण के गृहस्थ को कहा जा सकता है, जिसमें काम-विकार का नाम-निशान भी न था बल्कि योग-बल से सन्तति होती थी। अतः अपने उन पूर्वजों के समान तुम्हें भी पवित्र बनना चाहिए। भगवान् की सन्तान होकर अब शैतान का काम नहीं करना चाहिए। अब तो काम-रूपी विष का पीना और पिलाना बन्द करके ज्ञानामृत पीना चाहिए।"

२. अन्न की सात्विकता और पवित्रता

अन्न का मनुष्य के मन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। तमोगुणी भोजन खाने से मनुष्य शीघ्र ही उत्तेजित हो उठता है और उसकी वृत्ति अपवित्र ही बनी रहती है तथा उसमें आलस्य, निद्रा आदि प्रधान रहते हैं। इसी प्रकार रजोगुणी अन्न खाने से भी मनुष्य का मन बहुत चंचल रहता है और दृष्टि तथा वृत्ति अपवित्र बनी रहती है। मनुष्य थोड़ी-सी बात पर उत्तेज़ित और क्रोधाविन्त हो जाता है और उसकी निर्णय-शक्ति उचित तथा अनुचित में अथवा धर्म तथा अधर्म में ठीक रीति से भेद नहीं कर पाती। जिस मनुष्य का आहार सतोगुणी न हो, वह न तो काम-क्रोधादि विकारों पर पूर्ण विजय पा सकता है और न ही योग में स्थिति प्राप्त कर सकता है।

अतः यदि हमें ईश्वरीय स्मृति का आनन्द प्राप्त करने की इच्छा

है, यदि हम भोगी से योगी बनना चाहते हैं, और यदि कर्मेन्द्रियों तथा विकारों पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें अपने आहार पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। हमारा आहार पवित्र धन द्वारा इकट्ठा किया गया होना चाहिए और उसमें वही पदार्थ होने चाहियें जो कि देवताओं के मन्दिर में देवताओं के भोग के लिए रक्खे जाते हैं।

परन्तु इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि हमें किसी कामी व क्रोधी मनुष्य द्वारा पकाया गया भोजन सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि जैसे अन्न का प्रभाव मन पर पड़ता है, वैसे ही मन का प्रभाव भी अन्न पर पड़ता है। विकारी मनुष्य द्वारा बनाया हुआ भोजन भी दूषित हो जाता है और योगाभ्यासी मनुष्य के खाने योग्य नहीं रहता, क्योंकि वह मन पर बुरा प्रभाव डालता है। अतः हमें चाहिए कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है और परमपिता परम-आत्मा की स्मृति का अभ्यास करता है, उस ही के हाथों से बना हुआ भोजन हम लें, ताकि वह हमारे आध्यात्मिक पुरुषार्थ में सहायक हो। पुनश्च, भोजन करते समय हमें परमपिता परमात्मा की स्नेह-युक्त स्थिति में रहना चाहिए क्योंकि इससे हम भोजन में आसक्त नहीं होते और भोजन भी पवित्र हो जाता है।

३. ज्ञानवान और योगयुक्त लोगों का संग

संग का रंग मनुष्य पर शीघ्र या धीरे-धीरे थोड़ा-बहुत चढ़ता अवश्य है। अतः हमें विकारी मनुष्यों के संग में न रह कर ईश्वर-प्रेमी, योगाभ्यासी तथा निश्चय-बुद्धि लोगों ही का संग करना चाहिए ताकि हमारी भी लगन दिनों-दिन बढ़े। यदि कार्य-व्यवहार के कारण हमें विकारी लोगों के निकट रहना पड़ता है तो हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि हमारा मन सत्य-स्वरूप परमपिता परमात्मा के संग अर्थात् स्मृति में रहे और हमें ज्ञान-योगादि की चर्चा करते रहना चाहिए ताकि वातावरण में आध्यात्मिकता का प्रवाह रहे।

हमें गंदी पुस्तकों का संग भी छोड़ देना चाहिए तथा सिनेमा या

मन पर बुरा प्रभाव डालने वाली अन्य जो बुरी सभायें हैं अथवा लोग हैं उनका भी संग नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे संग से मनुष्य बहुत-सी बुरी बातें सीख लेता है जिन्हें जीवन से निकालना बहुत कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त, जिन पुस्तकों में देवी-देवताओं की निन्दा की गई हो, उनके जीवन में भी विकारों के अस्तित्व का उल्लेख किया गया हो, उन्हें भी झूठी और गन्दी पुस्तकें मानकर उनसे दूर रहना चाहिए, चाहे वे किसी धर्म-ग्रन्थ के रूप में ही क्यों न हों।

4. प्रतिदिन ज्ञान-स्नान

ऊपर बताए गये नियमों का पालन करने के अतिरिक्त, हमें नित्य-प्रति ज्ञान-स्नान अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि उसी से ही आत्मा का मैल धुलता है तथा दैवी-गुण जीवन में आते हैं। बुराई के मार्ग पर न जाने की सावधानी भी मिलती है और पवित्र रहने तथा योग-युक्त होने की प्रेरणा भी मिलती है। यदि किसी अटल कारण से हम किसी दिन ज्ञान-कक्षा में नहीं भी जा सकते तो भी हमें परमपिता परमात्मा शिव द्वारा दिये गये ज्ञान पर आधारित कुछ लेखों, कुछ शिक्षाओं इत्यादि का अध्ययन और मनन-चिन्तन अवश्य ही करना चाहिए और उन्हें अपने जीवन में धारण करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

इस प्रकार यदि हम ऊपर बताये गये तथा अन्यान्य ईश्वरीय नियमों का पालन करेंगे तथा अन्य ईश्वरीय युक्तियों का पालन करेंगे तो हमारा जीवन हीरे-तुल्य अवश्य बनेगा।

दैनिक चार्ट

पिछले पृष्ठों में जिन तीन ईश्वरीय युक्तियों का उल्लेख किया गया है, उन्हें आचरण में लाने के लिए हमें पूरा-पूरा पुरुषार्थ करना चाहिए। हमें प्रति-दिन इस बात की जाँच भी करनी चाहिए कि पुरुषार्थ में हमें कहाँ तक सफलता मिली है। नीचे हम कुछ प्रश्न लिख रहे हैं। उन्हें आप एक चार्ट का रूप दे सकते हैं। इस तरह का एक चार्ट रखना बहुत ही लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

१—(क) आप ईश्वरीय स्मृति में विशेष रूप से कितना समय बैठे ?
(ख) कार्य-व्यवहार आदि करते समय आप सारे दिन में कितना ईश्वरीय याद में रहे ?

२—योग में आपकी स्थिति साधारण थी, अच्छी थी या बहुत ही अच्छी थी ?

३—आपने आज ज्ञान का मनन-चिन्तन कितना समय किया ?

४—(क) आज आपने विशेष तौर पर किस दिव्य-गुण की धारणा के लिए पुरुषार्थ किया ?
(ख) क्या उसमें आपको सफलता मिली ?

५—(क) क्या आपने पवित्रता, स्वच्छता, भोजन और निद्रा से पहले ईश्वरीय स्मृति में स्थिति आदि नियमों का सन्तोष-जनक रीति से पालन किया ?
(ख) कौनसे नियम का आज आपने पालन नहीं किया ?

६—(क) क्या आपने दूसरों की कोई ईश्वरीय सेवा की ?
(ख) क्या आपने आज ईश्वरीय ज्ञान ही सुनाया या ईश्वरीय सेवार्थ कुछ धन दान दिया या योग द्वारा सेवा की ?

७—(क) आपके मन में कोई विकार तो नहीं आया ?
(ख) यदि आया तो क्या वह मन तक ही रहा या वचन में या कर्म में भी आया ?
(ग) क्या आपने उस विकार से अच्छी तरह युद्ध किया ? यदि हाँ, तो आपने अपने ही ज्ञान-बल से अथवा योग-बल से या किसी अन्य अच्छे पुरुषार्थी की सहायता के द्वारा उससे निवृत्ति प्राप्त की ?
(घ) यदि आपको विकार से हार हुई तो किस कारण से ?

८—क्या व्यर्थ संकल्पों या कार्यों में आज आपने कुछ समय व्यर्थ तो नहीं किया ?

हमारे कुछ अन्य प्रकाशन

योग की विधि और सिद्धि
साप्ताहिक पाठ्यक्रम
प्रभु मिलन कैसे हो ?
जीवन को पलटाने वाली एक अद्भुत जीवन-कहानी
दिव्य गुणों का गुलदस्ता
कमल पुष्प-सम पवित्र जीवन
परमात्मा कौन है और किधर है ? वह क्या करता है और
क्या नहीं करता ?
परमात्मा का अवतरण कब, क्यों और कैसे ?
मौत के बाद क्या और मौत से पहले क्या ?
आत्मा और परमात्मा की पहचान
सहज ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग
परमात्मा कहाँ है ?
प्रजापिता ब्रह्मा-कुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय का परिचय
ईश्वरानुभूति का मार्ग एक है या अनेक ?
आत्मा के तीनों कालों की कहानी
जीवन हीरे-तुल्य कैसे बने ?
विकारों पर विजय
जीवन में सुख-शान्ति
घर-गृहस्थ में योग
ज्ञानामृत पत्रिका (मासिक)
A HAND-BOOK OF GODLY RAJA YOGA
One Week Course
Peace of mind and World Peace
How to make Life Blissful
THE WAY AND THE GOAL OF RAJA YOGA
World Renewal Magazine

मिलने का पता :—

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय
१५१, ई०, कमला नगर देहली-७